



सामाजिक न्याय : समस्या एवं समाधान

सम्पादक

डॉ० अनीश कुमार वर्मा

सामाजिक न्याय : समस्या एवं समाधान

सम्पादक

डॉ० अनीश कुमार वर्मा

प्रकाशक

साउथ एशिया रिसर्च एण्ड डेवलपमेन्ट इंस्टीट्यूट
दुर्गाकुण्ड, वाराणसी-२२१००५, उ०प्र० (भारत)

प्रकाशक :

साउथ एशिया रिसर्च एण्ड डेवलपमेन्ट इंस्टीट्यूट

दुर्गाकुण्ड, वाराणसी-२२१००५, उ०प्र० (भारत)

मो.नं. 9453025847

© डॉ० अनीश कुमार वर्मा

प्रथम संस्करण, जनवरी-२०१६

ISBN 978-81-932391-0-0

मूल्य : तीन सौ पचास रुपये मात्र

मुद्रक :

राज ग्राफिक्स

बी०एच०यू० रोड, लंका, वाराणसी-221005, उ०प्र० (भारत)

सम्पर्क सूत्र : 09415842611

अन्नपूर्णा की साक्षात् प्रतिमूर्ति
पूजनीय माँ स्व० श्रीमती प्रमीला देवी
एवं
अनुज भ्राता कुलगौरव
स्व० आशीष कुमार
को सश्रद्धा नमन एवं समर्पित

- डॉ० अनीश कुमार वर्मा

Hkfedk

सामाजिक न्याय की अवधारणा व्यापक है, यह मानव को समान अवसर, समान भागीदारी, समान प्रस्थिती पर बल देता है अर्थात् यह मानव को मानवीय रूप में देखने का समर्थक है।

सामाजिक न्याय की समस्या केवल भारतीय समाज की समस्या नहीं है बल्कि यह वैश्विक समाजों में किन्हीं न किन्हीं रूपों में देखने को मिलता है। मानव समाज विशेषकर भारतीय मानव समाज में, सामाजिक न्याय के लिए समय-समय पर संघर्ष करने वाले समाज सुधारकों की एक लम्बी श्रृंखला यथा-गौतम बुद्ध से लेकर महात्मा गाँधी तक का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। जो भारत में सामाजिक न्याय के पुरोधे के रूप में प्रस्थापित है।

भारत सरकार द्वारा जारी नवीनतम सामाजिक आर्थिक एवं जाति जनगणना-2011 से भारतीय जनजीवन का सामना नये संकेतों से होता है। यह रिपोर्ट रेखांकित करता है कि उदासीकृत अर्थव्यवस्था का लाभ समाज के कमजोर वर्ग अर्थात् अनुसूचित जाति व जनजाति, अल्पसंख्यक महिला, किसान, बच्चों व वृद्धों आदि तक समूचित वितरण की आवश्यकता पहले की तरह बनी हुई है। देश की एक बहुत बड़ी आबादी को जीवन के मूलभूत अधिकारों से वंचित रह जाने को रेखांकित करता है। यह वंचना योजनाओं की ज्यादा भटकी हुई प्राथमिकताओं से जुड़ी है। इसमें न्यायोचित वितरण का न होना ज्यादा दोषपूर्ण है।

उक्त सन्दर्भों से यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या भारतीय जनता को सामाजिक न्याय मिला या नहीं मिला, यदि नहीं मिला तो क्यों?

उपरोक्त सरोकारों को दृष्टिगत करते हुए इस पुस्तक का उद्देश्य भी यही है जिसे उसके निबंधों में आसानी से देखा जा सकता है। सामाजिक न्याय : समस्या एवं परिप्रेक्ष्य पर केन्द्रित 'रिसर्च डिस्कॉर्स' विशेषांक, 2012 के कुछेक चुने हुए लेखों को संशोधित एवं परिवर्द्धित करके लिया गया है और कुछ विषय सामाग्री को अप्रासंगिकता के कारण हटाया गया है। हम प्रकाशक के सार्थक प्रयास से पुस्तक रूप में प्रकाशन के लिए एवं 'रिसर्च डिस्कॉर्स' के लेखकों और सहयोगियों के प्रति भी अपना आभार प्रकट करते हैं।

डॉ० अनीश कुमार वर्मा

fo"k; & l ph

- 1- Lkkeftd U; k; % vo/kkj .kkRed foopu 1&10
डॉ. अनीश कुमार वर्मा
- 2 I kekftd U; k; dh vo/kkj .kk % , d foe' kZ 11&15
डॉ० अरुण कुमार सिंह
- 3 Hkkjrh; jktuhfrd fplru ea I kekftd 16&21
U; k; dh vo/kkj .kk
डॉ० किसलय
- 4 I kekftd U; k; dh vo/kkj .kk dk fodkl 22&24
डॉ० राजेश कुमार सिंह
- 5 nfyr vkj ukjh foe' kZ % I kekftd U; k; ds 25&28
fo' k'k I UnHkZ ea
डॉ० संतोष कुमार त्रिपाठी
- 6 dchj vkj I kekftd U; k; ds I jkdkj 29&33
डॉ० कृपा किन्जल्कम
- 7 el; dkYkhu I ekt] I lNfr vq 34&37
dchj dk U; k; n' kZ
डॉ० नलिनी सिंह
- 8 I r dfo nknwn; ky 38&39
डॉ० प्रमोद कुमार निरंजन
- 9 I kekftd U; k; fd fn'kk ea bD jkekLokh 40&42
uk; dj i f; j; kj dk vonku
डॉ० रीता
- 10- dkyL ekDI l vkj vEcMdj ds fpru ea o. kZ 43&47
vkj oxl dh vo/kkj .kk
डॉ० आशुतोष श्रीवास्तव
- 11- ch- vkj- vEcMdj dk nfyr 48&49
efDr vknsyu ea vonku
डॉ० महेन्द्र कुमार उमर
- 12- Hkkjrh; uotkxj .k vkj nfyr pruk 50&52
अंजलि गढ़वाल

- 13- egkRek T; kfrck Qmys dk I kekftd U; k; ea vonku 53&55
डॉ० रामकेवल सिंह यादव
- 14- I kekftd U; k; ykfg; k dh nf"V ea 56&59
डॉ० सन्दीप कुमार मिश्र
- 15- I kekftd U; k; vkj nfyf I ekt 60&63
डॉ० श्रद्धा श्रीवास्तव
- 16- I kekftd U; k; , oa iapk; rh jkt 64&68
पंकज सिंह
- 17- egkRek xk/kh vkj MKD Hkhe jko vEcMdj
ds vLi"; rk I c/kh fopkj 69&73
डॉ० रंजना सिंह
- 18- I kekftd U; k; vj nfykr I ekt 74&77
डॉ० भारती पाण्डेय
- 19- I kekftd U; k; dk irhd %eujxk 78&81
डॉ० सुनील पाहवा एवं ज्ञानेन्द्र सिंह चौहान
- 20- uDI yoknh vknsyu , oa ekuo I j{kk %
I kekftd] vkfFkd , oa jktuhfrd U; k;
ds I anHkL ea 82&87
डॉ० सुरजीत सिंह भदौरिया
- 21- euqefr ea of. ktr n.M dk egRo 88&93
, oa mnns';
डॉ० प्रशांत कश्यप
- 22- MKD I Ei wkkLJUn vkj muds I ektoknh
fopkj % , d v/; ; u 94&97
लेफ्टीनेंट कामेश सिंह
- 23- dkyL eKDI l ds nf"V ea nfyf oxl 98&102
अतुल गुप्ता
- 24- orleku I e; ea MKD jke eukgj
ykfg; k ds I ekt n'ku dh ikl fxdrk 103&106
डॉ० रजनीश
- 25- MKD vEcMdj , oa I kekftd U; k; % , d v/; ; u 107&109
डॉ० पुरुषोत्तम लाल विजय

26-	Hkkjr esa vLi"; rk % , d uohu fo'ys'k.k डॉ० रामकृष्ण पाण्डेय	110&112
27-	dchj dk l ekt n'ku vkj ikl fxdrk पद्माधीमान	113&114
28-	Hkkjr esa nfyr o'kfjdjh dh ikl fxdrk % , d fo'ys'k.k Red v/; ; u सुधीर त्रिपाठी	115&117
29-	Hkkjr esa nfyr vkUnksyu dk bfrgkl % , d , frgkl d voykdu राकेश कुमार सिंह	118&122
30-	efgyk mRihMu dh i'of'ok , oa l ek/kku dk l ekto'k'fud v/; ; u डॉ० मंजू भारती	123&127
31-	efgyk l 'kfDr dj .k& , d uohu fo'ys'k.k गोपाल कृष्ण शर्मा	128&132
32-	Hkkjr h; l fo/kku , oa l kekftd U; k; डॉ० अर्पिता तिवारी	133&136
32-	l kekftd U; k; dh fn'kk esa Mk' Hkhejko vEcMdj dk ; kxnku अंजली गढ़वाल व डॉ० शैलजा दूबे	137&141
33-	Hkhejko vEcMdj ds i'ed'k vonku % , d uohu fo'ys'k.k डॉ० वन्दना खरे	142&147

Lkkekft d U; k; % vo/kkj .kkRed foopu

MkW vuh'k døkj oek*

समकालीन विमर्श के केन्द्र में सामाजिक न्याय है, इसे कुछेक लोग एक भ्रामक शब्द मानते हैं। क्योंकि अक्सर मानव—मानव के बीच कभी समान नहीं हो सकता और अवसरों का सदुपयोग करने में व्यक्तियों की क्षमताएँ भिन्न—भिन्न होती है। इन्हीं बिन्दुओं को ध्यान में रखते हुए सामाजिक न्याय के अवधारणात्मक विविध पक्षों को उद्घाटित करने का प्रयास किया गया है।

सामाजिक न्याय से आशय आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में समानता है। स्वन्त्रता के द्वारा कुछ बुनियादी अधिकार की आशा की जाती है जो व्यक्ति के नैसर्गिक विकास के लिये आवश्यक हैं, किन्तु समाज की रचना यदि असमानता पर आधारित है तो स्वतन्त्रता के अधिकार का कोई महत्त्व नहीं रहता है। वस्तुतः न्यायपूर्ण व्यवस्था वही होती है जो समान हो तथा समानता पर आधारित हो। किसी भी सामाजिक व्यवस्था में जितनी अधिक असमानता और विषमता होगी उस समाज में अन्याय तथा शोषण की उतनी ही अधिक सम्भावना होती है। कई बार समानता शब्द का प्रयोग एकरूपता अथवा समरूपता के लिए किया जाता है, किन्तु इसका यह अर्थ सही नहीं है। लास्की के अनुसार, समानता से तात्पर्य लोगों के साथ बर्ताव में एकरूपता से नहीं है, क्योंकि जब तक लोगों की आवश्यकता, पसन्द और क्षमता में अन्तर रहेगा तब तक उनके प्रति बर्ताव में किसी प्रकार की एकरूपता नहीं हो सकती। एक वैज्ञानिक की प्रकृति एवं प्रत्युत्तर एक कलाकार की प्रकृति एव प्रत्युत्तर के समरूप नहीं हो सकती।¹

समानता का तात्पर्य प्रयास के लिये पुरस्कार की एकरूपता से भी नहीं है क्योंकि कभी—कभी पुरस्कार में अन्तर एक—दूसरे के अधिकार का

*असिस्टेंट प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग, मड़ियाहूँ पी0जी0 कॉलेज, मड़ियाहूँ जौनपुर, उ0प्र0

अतिक्रमण कर देता है। समानता को परिभाषित किया गया है विचारों की सम्बद्धता से जो किसी हद तक अन्तरों में कम करने की प्रक्रिया को विकसित करती है। इस प्रकार इसका अर्थ यह हुआ कि कोई व्यक्ति समाज में इस प्रकार से अवस्थित न हो कि वह अपने पड़ोसी से इतना आगे बढ़ जाये कि उस पड़ोसी को अपनी नागरिकता से वंचित होना पड़े। इसका अर्थ यह हुआ कि अपने लक्ष्यों की प्राप्ति में दूसरे के लक्ष्यों का भी ध्यान रखा जाय, जिससे कि जीवनयापन के कार्यकलापों तथा लाभ की भागीदारी में संतुलन बना रहे। सामाजिक न्याय का सम्बन्ध व्यक्ति के अधिकारों तथा सामाजिक नियन्त्रण के बीच संतुलन से है जो प्रचलित कानूनों के अन्तर्गत व्यक्ति की वैध आकांक्षाओं की पूर्ति को सुनिश्चित करे और उसे उनके अन्तर्गत लाभों तथा राष्ट्र की एकता एवं समाज की आवश्यकताओं के अनुकूल उसके अधिकारों के किसी उल्लंघन या अतिक्रमण के विरुद्ध सुरक्षा का आश्वासन दे।^१ निःसन्देह सामाजिक न्याय का विचार व्यक्ति के कुछ अधिकारों को सामान्य हित की बलिवेदी पर चढ़ाना उचित ठहराता है। तथापि, यदि व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखा जाये तो सामाजिक न्याय के विचार का लक्ष्य न केवल व्यक्ति के हित की समाज के सामूहिक हित के साथ संगति स्थापित करना अथवा संघर्ष की दशा में पूर्वोक्त पर उपरोक्त की प्रधानता स्थापित करना है अपितु यह सामाजिक परिवर्तन के महान् संग्रह के एक अनिवार्य अंश का गठन भी करता है जिसके लिये किसी बड़ी अच्छाई की खातिर किसी वस्तु का बलिदान किया जा सकता है।^२

इसका आशय यह है कि प्रत्येक व्यक्ति का लाभ नागरिकता के उद्देश्य की पूर्ति के लिये समुचित हो। इस प्रकार इससे यह आशय निकला कि यदि एक व्यक्ति की आवाज का वजन दूसरे व्यक्ति की आवाज से कम है तो भी निर्णय प्रक्रिया में उस पर अवश्य विचार किया जाये। समानता का अर्थ निश्चित रूप से इस तथ्य में निहित है कि मनुष्यों की प्रकृति या स्वभाव में प्रत्येक अन्तर को उनकी इच्छाओं की अभिव्यक्ति के लिये एक रचना—क्रम की आवश्यकता होती है जो प्रत्येक व्यक्ति को उसका अपेक्षित भाव प्रदान कर सके। वास्तविक रूप में समानता के आदर्श की शक्ति इस ऐतिहासिक सच्चाई में निहित है कि अब तक राज्य के अभिलेख में मनुष्यों की इच्छाओं का उत्तर असमान रूप से दिया गया है। समानता का अर्थ समरूपता से भी

नहीं लगाया जा सकता है। समतावादी समाज की स्थापना के प्रयास का अर्थ व्यक्तिगत भेदों के समाप्त करना और लोगों के जीवन के समान प्रतिमान अपनाने के लिये बाध्य करना नहीं है। प्राचीन समय में कहीं भी इस प्रकार के प्रयास किये गये हैं, वे सफल नहीं हुये। पूर्वी यूरोप के देश तथा पूर्व सोवियत संघ के इस प्रकार विखंडित होने के उदाहरण हमारे सामने हैं। अरस्तू का कहना था कि न्याय समानता है, किन्तु उसका यह भी कहना है कि एक न्यायपूर्ण वितरण असमान है न्यायपूर्ण वितरण समान है या असमान है, इस मुद्दे पर विद्वानों में मतभेद हो सकता है, किन्तु सच्चाई यह है कि न्याय की विवेचना में समानता आधारभूत तत्व है तथा यह बात विवाद रहित है। इस क्रम में मुख्य विचार योग्य मुद्दे हैं—

1. क्या समानता वांछनीय है?
2. यदि हाँ, तो क्या पूर्ण अथवा निरपेक्ष समानता सम्भव है ? यदि हाँ तो समानता किस सीमा तक होनी चाहिए ?
3. किन विषयों में समानता होना अधिक आवश्यक है? समानता की प्राथमिकता क्या होनी चाहिए?

स्वतन्त्रतावादी एवं पूँजीवादी विचारक सामान्यता की तुलना में भिन्नता पर अधिक जोर देते हैं। उनका विचार है कि समानता तथ्यगत नहीं है। वे इस तथ्य से भी असहमत हैं कि सभी मनुष्य समान पैदा हुये हैं। उनके मतानुसार स्वभावगत भिन्नता, क्षमता तथा आन्तरिक शक्ति में भेद मानव जाति की विशिष्टता है। उद्विकास ने अन्य प्राणियों की तुलना में मानव को सबसे अधिक भिन्नतायुक्त बनाये है। भिन्नता मानव जाति का मौलिक एवं आधारभूत तत्व है। कतिपय विशिष्ट गुणों के माध्यम से जैविकी प्रत्येक व्यक्तित्व को एक विशिष्टता प्रदान करती है, जिसके कारण उसे समाज में एक गरिमा प्राप्त है जो उसे अन्यथा नहीं मिलती।

यह स्पष्ट है कि सामाजिक न्याय की अवधारणा बहुत व्यापक है जो अपने आँचल में अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा से लेकर गरीबी तथा निरक्षता के उन्मूलन तक सामान्य हित से संबंध रखने वाली प्रत्येक वस्तु को समेट लेती है। यह न केवल कानून के समक्ष समानता तथा न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त के पालन से सम्बन्धित है जैसा कि हम पश्चिमी विकसित देशों में देखते हैं अपितु इसका सम्बन्ध विकट सामाजिक बुराइयों जैसे निर्धनता,

बेरोजगारी तथा भूख के उन्मूलन से भी है, जिसकी कलंकमय अभिव्यक्ति पूर्व के विकासशील देशों में भी दिखाई देती है। साथ ही सामाजिक न्याय का सम्बन्ध उन निहित स्वार्थों की समाप्ति से भी है जो सार्वजनिक कल्याण की सिद्धि में बाधा डालते हैं तथा जिनका हित अपने लाभ के लिये यथास्थिति को बनाये रखने में हो। ऐसी स्थिति में विश्व के पिछड़े देशों में सामाजिक न्याय का विचार राज्य पर यह दायित्व डालता है कि वह दलितों तथा समाज के कमजोर वर्गों की दशा सुधारने के जीवन का आर्थिक पक्ष भी समाहित हो जाता है ताकि श्रमिक वर्ग का शोषण नहीं हो सके।

वस्तुस्थिति यह है कि प्रकृति समानता के आदर्श का पालन नहीं करती। असमानता प्रकृतिजन्य एक सामान्य नियम है। समाज से वर्ग-भेद यदि पूर्ण रूप से मिटा भी दिया जाय तो भी समाज में शक्तिशाली व कमजोर, प्रतिभावान व पिछड़े, भाग्यशाली व भाग्यहीन, आदि भेद तो बने ही रहेंगे। पूर्ण समानता एक असाधारण लक्ष्य है। सामान्यतया पूँजीवादी विचारक, स्वतन्त्र अर्थव्यवस्था, प्रतिस्पर्द्धा, लाभ एवं विकास पर अधिक बल देते हैं जिनको प्राप्त करने में समानता को वे प्रतिगामी अथवा विरोधी मानते हैं। इसलिये उनकी दृष्टि में समानता के लिये प्रयास करना वांछनीय नहीं है। उनकी स्पष्ट रूप से मान्यता है कि पिछली दो शताब्दियों में जिस तेज गति से आर्थिक विकास हुआ है, वह बहुत कुछ असमानता का फल है।

यह विकास असमानता के बिना सम्भव नहीं हो सकता था। समान धरातल पर प्रगति तेजगति से नहीं हो सकती। तीव्रगति से प्रगति तो स्तरीकरण के द्वारा ही हो सकती है, जिसमें कुछ लोग शेष अन्य लोगों से बहुत आगे होते हैं।⁴ प्रसिद्ध अर्थशास्त्री जी. आर. पैपनेक के अनुसार, "विकास के लक्ष्यों और समानता के मध्य एक संघर्ष है। आय में विषमता आर्थिक संवृद्धि में योगदान करती है जो निम्न आय समूह की आय में वास्तविक सुधार को सम्भव बनाती है।" उपयोगितावादी विचारकों की मान्यता भी बहुत कुछ इस तरह की है। उनका विचार है कि समाज में उपयोगिता की दृष्टि से प्रकार्य भिन्न-भिन्न होते हैं। ऐसी स्थिति में उन प्रकार्यों से प्राप्त होने वाली आय में भिन्नता का होना स्वाभाविक है।⁵ स्वतन्त्र बाजार व्यवस्था पर जोर देने वाले उदारवादी विचारक किसी भी प्रकार की पूर्व में सोची हुई वितरण व्यवस्था के थोपे जाने के विरुद्ध हैं, चाहे

वह समानता अथवा असमानता किसी भी आधार पर निर्भर हो। उनका मानना है कि आर्थिक क्रियाओं में राज्य का बिल्कुल भी हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। वे चयन की स्वतन्त्रता को निजी स्वामित्व पर आधारित अर्थव्यवस्था तथा राजनीतिक व्यवस्था का आधारभूत तत्व मानते हैं। उनके विचार से इस पर किसी भी प्रकार प्रहार न केवल प्रगति के विरुद्ध है, अपितु दासत्व की ओर ले जाने वाला है। उदार पूँजीवादी विचारकों का सोचना है कि यद्यपि पूर्ण समानता सम्भव नहीं है और समानता, विकास के प्रतिकूल भी है तब भी मानवीय दृष्टि से समानता के लिये प्रयत्न करना नहीं छोड़ा जाना चाहिए, क्योंकि प्रश्न असमानता को समाप्त करने का नहीं है, प्रश्न तो असमानता के आधार पर सामाजिक भेदभाव को दूर करना या कम करने का है। ये विचारक समाज में अवसर की समानता तथा कानून के समक्ष समानता की बात करते हैं। जहाँ वे इन्हें प्रत्येक मानव का अधिकार समझते हैं, वहीं इनको वे प्रोत्साहन तथा प्रगति की राह में बाधक भी नहीं मानते। इन स्वीकृतियों से एक ओर जहाँ व्यक्ति को न्याय मिलता है, वहीं दूसरी ओर उनकी स्वतन्त्रता का अपहरण भी नहीं होता है।

उदारवादी विचारधारा से सम्बन्ध रखने वाले विचारक जहाँ निजी स्वामित्व, स्वतन्त्र बाजार अर्थव्यवस्था तथा पूँजीवाद को प्रगति की कसौटी मानते हैं, वहीं समाजवादी विचारक इनको शोषण, बेकारी, निर्धनता, आमनवीय कार्य की दशाएँ तथा आय, धन व सामाजिक स्थिति में घोर विषमता जैसी बुराइयों की जड़ मानते हैं।

समाजवादी विचारक पूँजीवाद की उत्पादन सम्बन्धी सफलता को तो स्वीकार करते हैं किन्तु जनसाधारण पर इससे होने वाली ज्यादतियों को कम करने के दृष्टिकोण से इनके लाभ के वितरण पर प्रभावपूर्ण नियन्त्रण लगाये जाने पर बल देते हैं। उनका मानना है कि लाभ के वितरण पर प्रभावपूर्ण नियन्त्रण लगाये जाने पर बल देते हैं। उनका मानना है कि लाभ कमाने की अनियन्त्रित लालसा पर नियन्त्रण लगाया जाना निर्धन, गरीब व शक्तिहीन लोगों की रक्षा की दृष्टि से बहुत ही जरूरी है। यह नियन्त्रण के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

वास्तव में असमानता, भेदभाव और अन्याय के विरुद्ध जागरुक प्रयास पशु समाज में देखने को नहीं मिलता। पशु समाज में यह सम्भव नहीं

है ऐसा केवल मानव समाज में ही सम्भव है उन्हें सामाजिक लाभ में न्याय-संगत हिस्सा मिले, इसके लिये उनकी क्षतिपूर्ति किया जाना आवश्यक है तथा इस सम्बन्ध में पहल समाज ही कर सकता है जो उसका नैतिक दायित्व भी है।

गुन्नार मिर्डल पश्चिम के अर्थशास्त्रियों से इस बात से असहमति व्यक्त करते हैं कि समानता विकास में बाधक है। उनका मत है कि विकास की गति को तेज करने के लिये समानता की अवधारणा के विकास की आवश्यकता है। उनके अनुसार, आर्थिक विकास और सामाजिक न्याय में संघर्ष नहीं है अपितु उनमें बहुत कुछ सौहार्द्र है। अपने मत के समर्थन में उन्होंने कुछ महत्वपूर्ण तर्क दिये हैं— उनका पहला तर्क तो यह है कि आय में असमानता बचत की दृष्टि से आवश्यक समझी जाती है, किन्तु अविकसित देशों में भूस्वामी और अन्य अमीर लोग बचत की जगह व्यर्थ के दिखावों पर बहुत अधिक खर्च करते हैं।

उनका दूसरा तर्क है कि अविकसित देशों में अधिकाँश लोग कुपोषण व रोगों से ग्रस्त होते हैं। उनके मकानों की दशा भी खराब होती है। वे प्राथमिक स्वास्थ्य और शिक्षा की सुविधाओं से भी खराब होती है। वे प्राथमिक स्वास्थ्य और शिक्षा की सुविधाओं से भी वंचित रहते हैं जिनके कारण उनकी काम करने की इच्छा व क्षमता में कमी आ जाती है। इसके कारण उत्पादन में कमी आती है।

अतः उत्पादन बढ़ाने की दृष्टि से उनकी आय को बढ़ाने के उपाय किया जाना आवश्यक है। उनका तीसरा तर्क है कि सामाजिक असमानता, आर्थिक असमानता से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। ऐसी स्थिति में अधिक आर्थिक समानता, अधिक सामाजिक समानता लायेगी। चूँकि सामान्यतया सामाजिक असमानता विकास में बाधक है, अतः इस दृष्टि से भी अधिक आर्थिक समानता के प्रयास के पीछे एक मान्यता यह भी है कि इससे सामाजिक न्याय के विकास में सहायता मिलती है, जो राष्ट्रीय एकता और एकीकरण में प्रभावकारी सिद्ध होती है।

स्वतन्त्रतावादी एवं पूँजीवादी विचारकों के विपरीत साम्यवादी विचारक समानता को स्वाभाविक तथा वांछनीय मानते हैं। आई. बर्लिन के अनुसार, लाभ के समान वितरण के लिये किसी प्रकार के कारण बताने की

आवश्यकता नहीं होती है, क्योंकि यह स्वाभाविक, स्पष्ट, उचित एवं न्यायपूर्ण है।⁸ दूसरे शब्दों में समानता को कारण बताने की आवश्यकता नहीं होती। इसकी आवश्यकता केवल असमानता को होती हैं। समरूपता, नियमबद्धता तथा साम्यता का औचित्य बताना आवश्यक नहीं होता है। जबकि भिन्नता, अव्यवस्थित आचरण का कार्य व्यवहार में परिवर्तन को समझने और उचित सिद्ध करने की आवश्यकता होती है। यदि हमारे पास एक रोटी है और उसे चार लोगों में बराबर-बराबर न्यायपूर्ण ढंग से बाँटना है और प्रत्येक को रोटी का एक चौथाई भाग दिया जाता है तो फिर उसके औचित्य को बताने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु यदि समान वितरण के सिद्धान्त का त्याग कर दिया जाता है तो फिर इसके लिये कारण बताना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार से यह स्पष्ट है कि समानता की अवधारणा सहज और स्वाभाविक है। साम्यवाद से सम्बन्धित विचारकों, विशेष रूप से मार्क्स व एंजिल्स ने समानता को चर्चा का प्रत्यक्ष मुद्दा न बनाते हुये एक ऐसी समाज व्यवस्था की स्थापना पर जोर दिया है जिसमें समानता तथा असमानता का विवाद अप्रासंगिक हो जाता है। इन विचारकों के अनुसार समानता एक बुर्जुआ विचार है जिसको श्रमिक वर्ग की माँगों अथवा उद्देश्यों में कोई स्थान प्राप्त नहीं है। मार्क्स के अनुसार, साम्यवाद के पहले चरण में श्रम पर समान अधिकार का बुर्जुआ अधिकार होगा। व्यक्तियों में भिन्नता को देखते हुये यह समान अधिकार वस्तुतः असमान अधिकार में रूपान्तरित हो जाएगा। इस चरण के उत्पादकों का अधिकार उनके द्वारा किये हुए श्रम पर होगा। समानता इस बात में होगी कि मूल्यांकन समान मापदण्ड श्रम से होगा। फिर भी चूँकि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से शारीरिक अथवा मानसिक रूप से श्रेष्ठ होता है, इसलिए एक समय में अधिक श्रम कर सकता है या अधिक समय तक श्रम कर सकता है। ऐसी स्थिति में यह समान अधिकार असमान श्रम के लिये असमान अधिकार है।⁹ इस प्रकार साम्यवाद के प्रारम्भिक चरण में वितरण अनिवार्य रूप से असमान वितरण के रूप में होगा। ऐसा विशेष रूप से इसलिए होगा, क्योंकि यह समान अधिकार के अनुसार वितरण है। साम्यवाद के उच्चस्तर पर जब व्यक्ति श्रम-विभाजन की दासता से मुक्त हो जाता है, इसके साथ शारीरिक और मानसिक श्रम के बीच प्रतिवाद समाप्त हो जाता है, जब श्रम

केवल आजीविका का साधन मात्र नहीं अपितु जीवन की प्रमुख आवश्यकता बन जाता है, जब व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के साथ उत्पादन की शक्तियाँ भी बढ़ जाती हैं और सहकारी धन का प्रचुर प्रवाह हो जाता है, केवल तभी बुर्जुआ अधिकार के संकुचित परिक्षेत्र को पूर्ण रूप से लॉघ पाना सम्भव होता है और तभी समाज का नारा—“प्रत्येक अपनी योग्यता के अनुसार तथा प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार” फलीभूत होता दिखाई देता है।

वास्तव में, समाज में समानता और असमानता दोनों पाई जाती हैं। दोनों जहाँ पर प्राकृतिक हैं वहीं दोनों सामाजिक और सांस्कृतिक भी हैं। मानव जाति के सम्बन्ध में समानता और भिन्नता की तुलना में सामाजिक और सांस्कृतिक समानता व भिन्नता अधिक महत्वपूर्ण हैं। समानता सहज तथा वांछनीय तो है, किन्तु पूर्ण समानता असहज और आवांछनीय भी है क्योंकि यदि सारे ही व्यक्ति सभी विषयों में एक-दूसरे समान हो जायेंगे तो उनमें आदान-प्रदान का क्षेत्र बहुत सीमित हो जाएगा और समाज सिकुड़ जाएगा। समाज के अस्तित्व तथा विकास की दृष्टि से समानता व असमानता दोनों का होना आवश्यक है। यदि लिंग भेद नहीं होगा तो सन्तानोत्पत्ति कैसे होगी और सन्तान न होने से समाज कैसे चलेगा। व्यक्तियों में निहित क्षमता एवं गुणों में भेद से ही श्रम विभाजन, सहयोग और विकास सम्भव हो पाता है। इस सम्पूर्ण विवेचन से यह स्पष्ट है कि असमानता सहज भी है और आवश्यक भी, किन्तु असमानता की तुलना में समानता अधिक आवश्यक है। मनुष्य पशु की तुलना में अपने समाज पर अधिक निर्भर रहता है और समाज के बने रहने के लिये लोगों में परस्पर सहयोग आवश्यक है। समानता सहयोग को विकसित करती है। असमानता अथवा विषमता भी सहयोग को विकसित करती है, किन्तु अधिक विषमता संघर्ष को जन्म देती है। संघर्ष से समाज का विघटन होता है। समाज के विभिन्न घटकों में अविश्वास और संघर्ष अधिक होने से समाज विकास के स्थान पर विनाश की ओर अग्रसर हो जाता है।

सामाजिक जीवन में एकता की भावना का होना आवश्यक है। एकता की भावना समानता से विकसित होती है। अधिक विषमता से भाई-चारे की भावना का विकास नहीं होता और सामाजिक संगठन कमजोर हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप विकास के स्थान पर समाज के बिखरने और टूटने का खतरा अधिक हो जाता है। जब कभी समाज,

संस्कृति और राष्ट्र पर बाहर से संकट पैदा होता है तो उपेक्षित, वंचित सुविधा व अधिकारहीन लोग समाज की मुख्यधारा से आसानी से कट जाते हैं, क्योंकि वे हासिये पर होते हैं। हासिये पर अवस्थित लोगों की मूल धारा से आसानी के साथ पहचान कमजोर होती है। अतः बाह्य या आरोपित व्यवस्था से तादात्म्य स्थापित करने में उन्हें संकोच नहीं होता। ऐसी हालत में समाज, संस्कृति और राष्ट्र के विनाश को रोक पाना कठिन हो जाता है। भारत का उदाहरण हमारे समक्ष है। यहाँ पर व्याप्त सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक असमानता के कारण हमारा देश सदियों तक विदेशी सत्ता के अधीन रहा। अतः समाज के अस्तित्व को बनाये रखने के लिये तथा उसको सतत विकास की ओर गतिमान बनाये रखने के लिये विषमता जरूरी तो है किन्तु, विषमता को नियन्त्रित करना और समानता की प्राप्ति के लिये प्रयास करना कहीं अधिक आवश्यक है। समानता के कई मापदण्ड हैं। इनमें प्रमुख हैं— सामाजिक, राजनैतिक, शैक्षिक एवं सांस्कृतिक आदि।

इनमें भी प्रत्येक के कई उपमापदण्ड हैं। समस्त मापदण्डों की एक पूरी सूची बनाना कठिन है। साथ ही इन सबके मिलाने से समानता का कोई एक संयुक्त या परिणामकारी मापदण्ड निकालना और भी कठिन कार्य है। ऐसी स्थिति में सर्वांगीण अथवा पूर्ण समानता से तात्पर्य सभी मानदण्डों एवं उपमानदण्डों पर पूर्ण समानता से है, जिनके बारे में स्पष्ट व निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। इसलिए अधिकांश जब हम समानता की बात करते हैं तो हमारा तात्पर्य किसी विशेष मापदण्ड या उपमापदण्ड के परिप्रेक्ष्य में समानता से होता है। जैसे— आय, सम्पत्ति, शैक्षिक स्तर या सामाजिक स्थिति आदि—आदि। समाजवादी समाज के पक्षधर विचारक सामान्यतया आर्थिक समानता पर अधिक जोर देते हैं।

असमानता दो प्रकार की होती है—

1. प्राकृतिक या जैविक, जैसे—लिंग, रंग, आयु, स्वास्थ्य, शारीरिक शक्ति, बौद्धिक तीक्ष्णता आदि में असमानता।
2. सामाजिक असमानता अर्थात् समाज में वर्ग, जाति या व्यवसाय के आधार पर भेदभाव।

सामाजिक असमानता समाज के द्वारा पैदा होती है। यह असमानता सामान्यतया लोगों की सहमति पर आधारित होती है और बहुत कुछ

परम्परागत होती है। इसे व्यक्तियों एवं समूहों की सुविधाओं अथवा परिस्थितियों में भिन्नता के रूप में देखा जा सकता है जिसमें कुछ लोग दूसरों की तुलना में धनी, सम्मानीय एवं शक्तिसम्पन्न होते हैं जिसके कारण वे अपनी बातों को दूसरों से चाहने अथवा न चाहने पर भी मनवा लेते हैं। सामाजिक न्याय का सम्बन्ध वास्तव में दूसरे प्रकार की न चाहने पर भी बात मनवा लेने की असमानता से है।

सामाजिक न्याय से आशय यह है कि व्यक्ति-व्यक्ति के मध्य सामाजिक स्थिति, रंग, जाति, धर्म, भाषा या लिंग आदि के आधार पर किसी प्रकार का भेद न किया जाये और राज्य में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास का पूर्ण अवसर मिले।¹⁰

I UnHkz %

1. सिन्हा, एस.पी. 1991; पर्सपैक्टिव ऑन सोशल जस्टिस, कैपिटल, दिल्ली, पृ. 9
2. जौहरी, जे.सी. 2005; आधुनिक राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त, नई दिल्ली, स्टर्लिंग, पृ. 193
3. जौहरी, जे.सी. 2005; आधुनिक राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त, नई दिल्ली, स्टर्लिंग, पृ. 193
4. बी. नायक; ऑन इक्वैलिटी एंड डिस्ट्रीब्यूटिव जस्टिस, इकोनामिक एंड पॉलिटिकल वीकली, व्यलूम 26, अंक 11-12, 1992, पृ. 583
5. सिन्हा, एस.पी. 1991; वही, पृ. 26
6. बी. नायक; वही, पृ. 585
7. सिन्हा, एस.पी. 1991; वही, पृ. 26-27
8. बी. नायक; वही, पृ. 583-590
9. सिंह, रामगोपाल. 2006; सामाजिक न्याय एवं दलित संघर्ष, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, राजस्थान, पृ. 7
10. मल, डॉ. पूरण. 2002; दलित संघर्ष और सामाजिक न्याय, आविष्कार पब्लिशर्स, जयपुर

I kekftd U; k; dh vo/kkj .kk %
, d foe'kZ
MkD v#.k dckj qI g*

शताब्दियों से भारतीय सामाजिक व्यवस्था विभिन्न प्रकार के सोपानों से युक्त रही है। यह सोपानिक व्यवस्था मुख्यतया असमानता के सिद्धान्त पर आधारित रहा है। परन्तु आधुनिक भारतीय समाज का निर्माण अपनी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से भिन्न एवं समानता के सिद्धान्त पर आधारित है। समानता की यह वैचारिकी भारतीय संविधान से प्रादुर्भूत हुआ जो सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक न्याय पर बल देता है तथा राज्य को निर्देश देता है कि वह सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक न्याय पर आधारित व्यवस्था की स्थापना करे। इसके लिए आवश्यक है कि राज्य आर्थिक असमानताओं को दूर करे। कार्य करने वाले व्यक्तियों को एक अच्छा जीवन स्तर उपलब्ध करायें तथा समाज के कमजोर वर्गों की अभिरुचियों को पोषित करे। इस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था की स्थापना सामाजिक न्याय की स्थापना एवं प्राप्ति से संभव है।

I kekftd U; k; dh vo/kkj .kk

आधुनिक समय में सामाजिक न्याय एक ऐसा सामान्य वाक्यांश है जिसका प्रयोग कई अर्थों में किया जा रहा है। इसके परिणामस्वरूप इस वाक्यांश के कई विरोधी अर्थ निकाले जाते हैं। इससे सामाजिक न्याय की अवधारणा समस्याग्रस्त हो गयी है। सामाजिक न्याय को विभिन्न अर्थों में उपयोग किया जाता रहा है जो इस प्रकार है—

1. सम्पत्ति का विभाजन अथवा पुनः विभाजन;
2. समानता का अवसर¹
3. लाभों एवं अलाभों का न्यायसंगत विभाजन, शक्ति एवं स्वतंत्रता के दुरुपयोग को रोकना, विवादों के सम्बन्ध में न्यायपूर्ण निर्णय एवं परिवर्तन को आत्मसात करना²

*असिस्टेन्ट प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी, उ०प्र०

4. व्यक्तियों के वैयक्तिक संबंधों में अन्याय की संपुष्टि (संकुचित अर्थ में) एवं व्यक्तियों के राजनैतिक आर्थिक एवं सामाजिक जीवन में असन्तुलनों को समाप्त करना (वृहत अर्थ में);
5. उदारवादी अवधारणा जो कि समाज के प्रत्येक सदस्य को समान अवसर उपलब्ध कराने का आश्वासन देती है।³
6. सम्पूर्ण समाज में साधनों, लाभों, भागों इत्यादि का विभाजन जो कि प्रमुख सामाजिक संस्थाओं से सामने आता है।⁴
7. समाज में व्यक्ति का जैविक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक विकास।⁵
8. एक आदर्श स्थिति जिसमें समाज के समस्त सदस्यों को एक ही प्रकार के अधिकार, संरक्षण, अवसर, दायित्व एवं सामाजिक लाभ पा सकें।
9. संसाधनों, अधिकारों, अवसरों एवं कर्तव्यों के विभाजन में उचितता।⁶ इस प्रकार से सामाजिक न्याय की अवधारणा का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया जाता है जो कि सामाजिक एवं राजनैतिक सन्दर्भों के परिप्रेक्ष्य पर निर्भर करता है।

I kekftd U; k; ds ifjA&;

सामाजिक न्याय के अर्थ की खोज ने न्याय के तीन परिप्रेक्ष्यों की चर्चा पर बल दिया है। ये परिप्रेक्ष्य हैं—

(अ) न्याय की औचित्यपूर्णता का परिप्रेक्ष्य

इस परिप्रेक्ष्य से संबंधित प्रमुख बातें इस प्रकार हैं—

1. प्रत्येक व्यक्ति किसी प्रकार की सामग्री को अपने अधिकार में लेने का अधिकार रखता है जिसे उसने वैधानिक रूप से प्राप्त किया है।⁷
2. व्यक्ति स्वायत्तता रखता है तथा वह अपने संसाधनों को दूसरों से भागीदारी करने का उत्तरदायी नहीं होता है।
3. हकदारी पर आधारित न्याय का स्वरूप विभाजन पूर्ण न्याय के सिद्धान्त को अस्वीकार करता है।
4. अन्ततः सामाजिक न्याय के इस रूप में इस प्रकार की व्यवस्था को लाइसेंस प्रदान करता है जिसमें धनवान एवं सफल व्यक्ति

अपनी आर्थिक एवं वैधानिक सुविधाएँ बिना किसी समय के अपने पास रख सकता है तथा कम धनवान व्यक्ति कभी समाप्त न होने वाले सापेक्ष वंचन के चक्र का शिष्य होता है।^९

5. इस कारण से समाज कार्यकर्ताओं द्वारा न्याय की इस विचारधारा को स्वीकार नहीं किया जाता क्योंकि यह सामाजिक न्याय की सम्रान्तवादी विचारधारा का पोषक है।

(ब) न्याय का उपयोगितावादी परिप्रेक्ष्य

इस परिप्रेक्ष्य के मुख्य तत्त्व इस प्रकार हैं—

1. यद्यपि एक व्यक्ति उत्पीड़न से स्वतंत्रता का अधिकार रखता है, परन्तु दुर्लभ संसाधनों का पुनःवितरण सामान्य भलाई की अभिरुचि को पूर्ण करता है अतः इसे घटित होने चाहिए।
2. अधिकतम संख्या की अधिकतम भलाई इस परिप्रेक्ष्य का प्रमुख सिद्धान्त है।
3. व्यक्ति और परिस्थितियों के बावजूद समस्त व्यक्तियों के लिए खाद्यान्न सामग्री के अधिकतम उत्पादन को बढ़ावा देने वाली स्थितियों को आगे लाना चाहिए।
4. कल्याण के रूप में न्याय स्थापना करने में कभी—कभी अधिकतम सामूहिक खुशी के लिए व्यक्तियों के साथ असमान रूप से व्यवहार एवं सामाजिक लाभों का असमान रूप से विभाजन को सम्मिलित करना पड़ता है।
5. इस विचार के आलोचकों का मत है कि उपयोगितावादी उचित रूप से विभाजन की गारंटी नहीं देती है तथा इसके अन्तर्गत व्यक्ति अधिक से अधिक आवश्यकताओं को महसूस करते हैं।

(स) न्याय का संविदावादी परिप्रेक्ष्य

इस परिप्रेक्ष्य में सामाजिक न्याय को 'उचितता' के रूप में देखता है। इस विचारधारा के प्रमुख तत्त्व इस प्रकार हैं—

1. समस्त व्यक्तियों की आवश्यकताओं पर ध्यान दिया जाना चाहिए।
2. समस्त व्यक्तियों के लिए स्वतंत्रता के एक प्रकार की व्यवस्था के साथ मेल खाने वाली मौलिक स्वतंत्रताओं की सबसे अधिक

प्रसारित पूर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को समान अधिकार प्राप्त रहता है।

3. सामाजिक एवं आर्थिक विषमताओं को इस प्रकार से रखा जाता है कि वे सबसे कम लाभ पाने वाले व्यक्तियों को अधिकतम लाभ दे सकें।⁹
4. नागरिकों को समान अधिकार, अवसर में समानता एवं संसाधनों तक समान पहुँच प्राप्त होनी चाहिए, लेकिन संसाधनों में असमानता की आज्ञा तभी दी जानी चाहिए जबकि यह समाज के सबसे निम्न वर्ग को लाभ पहुँचाये।¹⁰

U; k; ds ekud

सामाजिक न्याय के उपरलिखित परिप्रेक्ष्यों से न्याय के तीन मानक सामने आते हैं जो इस प्रकार हैं—

(अ) न्याय का अधिकार—मानक

इसके अनुसार न्याय का कार्य वैज्ञानिक अधिकारों का सम्मान करना है चाहे ये वैधानिक अधिकार सामाजिक न्याय के उद्देश्यों की पूर्ति करते हों या सीमांत रूप से करते हों। इन वैधानिक अधिकारों का उल्लंघन अन्याय की श्रेणी में आता है।

(ब) न्याय की अर्हता का मानक

इसके अनुसार लाभों की हकदारी का आधार व्यक्ति की योग्यता, कौशल, सक्षमता, कुशलता इत्यादि होना चाहिए।

(स) न्याय का आवश्यकता मानक

इस मानक के अनुसार न्याय संबंधी निर्णयों का आधार व्यक्ति की आवश्यकता होनी चाहिए। क्योंकि, समानतावादी लेखों में समानता का सिद्धान्त एवं आवश्यकता का सिद्धान्त दोनों ही समान रूप से चलते हैं तथा समानता का सिद्धान्त आवश्यकता के सिद्धान्त का प्राकृतिक रूप से विकसित रूप है।¹¹

इस प्रकार से सामाजिक न्याय की अवधारणा सभी के लिए समानता लाने पर बल देती है तथा इसके प्रयास करना इसमें सम्मिलित है। इसके साथ यह अवधारणा इस बात को भी अवसर देती है कि

आवश्यकता पर आधारित कमजोर एवं दबे हुए व्यक्तियों/वर्गों के लिए विशेष प्रावधान किए जाएँ।

I UnHkZ %

1. एलेन. सी0के0, 1950; आस्पेक्ट्स ऑफ जस्टिस, स्टीवेन्स एण्ड सन्स, लन्दन, पृ0 31
2. डायस. आर0डब्ल्यू0एम0, 1985; जूरिशप्रूडेन्स, टरबर्थर्स, लन्दन, पृ0 66
3. अय्यर. जस्टिस, वी0आर0, कृष्णा, 1980; जस्टिस एण्ड वियाण्ड, दीप एण्ड दीप, नई दिल्ली, पृ0 157-158
4. मिलर. डेविड, 1976; सोशल जस्टिस, क्लेयरडन प्रेस, आक्सफोर्ड, पृ0 22
5. गोविन्द. के0वी0, 1995; रिफार्मेटिव लॉ एण्ड सोशल जस्टिस इन इण्डियन सोसायटी, रेजेन्सी पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, पृ0 6
6. रोश-मिलर, एम0, 1994; इवैल्युवेशन, सोशल जस्टिस एण्ड सोशल वर्क, आस्ट्रेलियन सोशल वर्क, पृ0 21-26
7. नोजिक. आर, 1974; अनार्की, स्टेट एण्ड उटोपिया, बेसिक बुक्स, न्यूयार्क
8. श्रीवास्तव. एस0पी0, 1997; "दि कान्सेप्ट ऑफ सोशल जस्टिस", पाठक, विन्देश्वरी (एड), सोशल जस्टिस एण्ड डेवलपमेण्ट ऑफ वीकर सेक्शन्स, इण्टर इण्डिया पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, पृ0 39
9. राल्स, जे0, 1971; ए थ्योरी ऑफ सोशल जस्टिस, हारवर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज
10. वान, सोइस्ट, डी, 1992; "पीस एण्ड सोशल जस्टिस एज एन इन्टीग्रल पार्ट ऑफ सोशल वर्क, करीकुलम : ए नार्थ अमेरिकन पर्सपेक्टिव", आस्ट्रेलियन सोशल वर्क, 45:10, पृ0 29-38
11. मिलर. डेविड, 1976; वही, पृ0 174

न्याय: राजनीतिक चिन्तन का प्रमुख प्रतिपाद्य

U; k; dh vo/kkj .kk

MKND fdl y; *

‘न्याय’ सदैव से ही भारतीय राजनीतिक चिन्तन का प्रमुख प्रतिपाद्य रहा है। राजनीतिक चिन्तन की भारतीय धारा में प्राचीन काल से आज तक न्याय का स्वरूप निरन्तर परिवर्तनशील रहा है। प्राचीन काल में जहाँ भारतीय चिन्तकों ने न्याय को मुख्यतः सद्गुण तथा सामाजिक व्यवस्था को नियमित करने वाली व्यवस्था स्वीकार किया, वहीं मध्यकाल में न्याय की मुख्यतः कानून अवधारणा को स्वीकार किया गया। आधुनिक काल आते-आते भारतीय राजनीतिक चिन्तन की न्याय की अवधारणा में व्यापक परिवर्तन हुआ। इस काल में भारतीय राजनीतिक चिन्तकों द्वारा सामाजिक न्याय की अवधारणा प्रमुखता से विचार किया गया। तथा भारतीय समाज के अन्यायी स्वरूप का निषेध किया गया। सामाजिक न्याय की यह अवधारणा पुनर्जागरणकालीन चिन्तकों राजाराम मोहन राय, दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द, से प्रारम्भ होकर ज्योतिबा फुले, नायकर, गाँधी तथा अम्बेडकर जैसे विचारकों के दर्शन में मुख्य रूप से प्रदर्शित होती है।

न्याय के विभिन्न सिद्धांतों में आज सामाजिक न्याय को विशेष रूप से मान्यता प्राप्त है। वस्तुतः इसी प्रवृत्ति के अनुरूप आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तक ने भी सामाजिक न्याय की अवधारणा को प्रमुख स्थान दिया है। वास्तव में भारतीय राजनीतिक चिन्तकों ने न केवल चिन्तन के स्तर पर सामाजिक न्याय की अवधारणा को महत्व दिया अपितु इसको एक आंदोलन का रूप देकर, व्यवहारिक स्तर पर भी क्रियान्वित करने का प्रयास किया। अतः प्रस्तुतः शोध पत्र का उद्देश्य भारतीय राजनीतिक चिन्तन में सामाजिक न्याय की अवधारणा का अध्ययन करने के साथ ही साथ भारतीय समाज को न्यायशील बनाने हेतु चलाए जा रहे विभिन्न

*12/30 म्योर रोड, द्वारिकापुरी, कालोनी, इलाहाबाद, उ0प्र0

आन्दोलनों पर इनके प्रभाव का मूल्यांकन करना है। वास्तव में इस प्रकार के अध्ययन से हमें भारतीय चिन्तकों की न केवल समाज के प्रति संवेदनशीलता व प्रासंगिकता का ज्ञान होगा अपितु हमें व्यापक स्तर पर इनकी प्रभावशीलता का भी पता चल सकेगा।

सामान्य तौर पर “सामाजिक न्याय से अभिप्राय भौतिक पुरस्कारों का नैतिक व न्यायपूर्ण वितरण है। इसमें समाज के हित में समाज के शोषित व पिछड़े वर्गों के पक्ष में झुकाव सम्मिलित रहता है”। इस प्रकार सामाजिक न्याय का मुख्य उद्देश्य धर्म, जाति, लिंग, जन्म, निवास स्थान आदि पर आधारित भेदभाव को समाप्त करके सभी को अपने विकास के समान अवसर प्रदान करना है। यह अवधारणा समाज की सभी वस्तुओं, सेवाओं एवं लाभों आदि के न्यायपूर्ण वितरण पर आधारित है। यह समाज के वंचित वर्गों की दशा सुधारने तथा इस हेतु इनके हित में सकारात्मक कार्य (पोजिटिव एक्शन) करने की बात करता है।

भारतीय राजनीतिक चिन्तन में सर्वप्रथम सामाजिक न्याय की अवधारणा का प्रस्फुटन बौद्ध दर्शन में होता है। बौद्ध धर्म ने भारतीय समाज में प्रचलित वर्ण व्यवस्था या जाति प्रथा का खण्डन किया। इसने धर्म की ऐसी परिभाषाओं का खंडन किया जो वर्णव्यवस्था तथा धर्मशास्त्रों पर आधारित थी। यही नहीं बौद्ध धर्म ने स्त्रियों को धार्मिक व्यवस्था में नियमित रूप से भाग लेने हेतु आज्ञा दी। वस्तुतः प्राचीन राजनीतिक चिन्तन में जहाँ कौटिल्य और मनु जैसे चिन्तक वर्ण व्यवस्था को स्वीकार करके समाज के पद सोपानिक रूप को मान्यता प्रदान करते हैं, वहीं बौद्ध दर्शन इसका खण्डन करके एक समानतापरक समाज व्यवस्था बनाने का विचार प्रस्तुत करता है। कालान्तर में यही विचार 19वीं तथा 20 वीं शताब्दी के दलित व पिछड़े वर्ग आंदोलन का मुख्य आधार भी बना।

बौद्ध दर्शन के पश्चात् भारतीय चिन्तन में सामाजिक न्याय की अवधारणा का पुनरोद्भव भारतीय पुर्नजागरण काल से हुआ। भारतीय पुनर्जागरण के पिता राजा राममोहन राय ने हिन्दू धर्म की विभिन्न कुरीतियों तथा कुप्रथाओं का विरोध किया। वे साम्प्रदायिकता, अन्धविश्वास तथा मूर्ति पूजा के घोर शत्रु और एकेश्वरवाद के प्रबल समर्थक थे। राय ने 1818 में सती प्रथा के उन्मूलन के लिए विख्यात आंदोलन प्रारम्भ किया और 1829 में तत्कालीन गवर्नर लार्ड विलियम बैंटिक ने विनियम 17 के अन्तर्गत सती प्रथा को अवैध घोषित कर

दिया।³ आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वर्णव्यवस्था के जन्म सिद्धान्त को अस्वीकार करके इसके कर्म सिद्धान्त को मान्यता प्रदान की। उनके अनुसार कोई व्यक्ति व्यवसाय के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र हो सकता है, परन्तु ये सारे वर्ण समान हैं और इनमें कोई अस्पृश्य नहीं है। वास्तव में दयानन्द सरस्वती एक ऐसे कर्मशील चिन्तक थे जिन्होंने शूद्रों तथा स्त्री को वेद पढ़ने तथा ऊँची शिक्षा प्राप्त करने, यज्ञोपवीत धारण करने तथा अन्य सभी पक्षों से ऊँची जाति तथा पुरुषों के बराबर अधिकार प्राप्त करने हेतु आन्दोलन किया।⁴

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन में ज्योतिबा फूले सामाजिक न्याय के प्रमुख पैरोकार के रूप में अवतरित हुए। फुले ने ऐसी राजनीति का समर्थन किया जो न केवल दलित उत्थान पर आधारित हो अपितु उसमें सभी वर्गों को समुचित प्रतिनिधित्व भी प्राप्त हो। उन्होंने ब्राह्मण शास्त्रों, पुरोहितवाद और जातिप्रथा पर कठोर प्रहार किया जो आगे चलकर अम्बेडकर हेतु प्रेरणादायी सिद्ध हुआ। मूर्तिपूजा, पाखंड, पुरोहितवाद के खिलाफ प्रार्थना समाज और आर्य समाज के सिद्धान्तों पर फुले का ही प्रभाव था।⁵ फुले की भांति ई०वी० रामास्वामी नायकर ने भी दलित शोषित निम्न जातियों के शोषण का मुख्य कारण वर्णाश्रम व्यवस्था को माना। नायकर का विश्वास था कि तमिल प्रदेश में वर्णाश्रम धर्म जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अन्य जातियों की तुलना में ब्राह्मण का वर्चस्व स्थापित करता है तथा सारे गैर ब्राह्मणों को शूद्र का दर्जा देता है। नायकर ने इस ब्राह्मणवाद का वर्चस्व तोड़ने हेतु आत्मसम्मान आन्दोलन चलाया जिसका लक्ष्य तमिल प्रदेश के ब्राह्मणवाद को चुनौती देते हुए गैर-ब्राह्मणों के मन में अपनी द्रविड परम्परा पर गर्व का भाव जगाना था।⁶ नायकर के विचारों ने ही दक्षिण भारत में पिछड़ा वर्ग आन्दोलन को मार्गदर्शन प्रदान किया।

भारतीय राजनीतिक चिन्तन में सामाजिक न्याय की अवधारणा को अपने चिन्तन का विषय बनाने वाले विचारकों में महात्मा गाँधी तथा डॉ० भीमराव अम्बेडकर का सबसे महत्वपूर्ण स्थान है। गाँधी जी ने हिन्दू धर्म में विद्यमान असमानता तथा दलित निम्न जातियों की हीन दशा व शोषण का आजीवन विरोध किया। गाँधी जी दलित वर्ग की हीनदशा हेतु वर्ण व्यवस्था को उत्तरदायी नहीं मानते थे। गाँधी जी की मान्यता थी वर्णव्यवस्था जन्म से नहीं

अपितु कर्म से निर्मित होती है। गाँधी के वर्णाश्रम में कही भी ऊँच-नीच के भाव की गन्ध नहीं आती है। वैदिक वर्णाश्रम के समर्थक होने के नाते वर्तमान भारत में जो जातिगत संकीर्णता है उसका गाँधी जी ने बड़ा जोरदार खण्डन किया तथा जाति प्रथा, कुरीतियों, व कुव्यवहारों के प्रति बड़ा ही प्रबल आन्दोलन किया।⁷ अतः गाँधी जी ने दलितों के उद्धार हेतु अनेक कार्य प्रारम्भ किये जिसके तहत 'हरिजन सेवक संघ' तथा 'आल इण्डिया' डिप्रेस्ड क्लास एसोसिएशन का निर्माण किया। इन संगठनों ने दलितों की शिक्षा, रोजगार तथा आर्थिक सहायता देने हेतु महत्वपूर्ण कार्य किये।

डॉ० भीमराव अम्बेडकर ने भी गाँधी जी की भांति ने केवल चिन्तन अपितु कर्म के स्तर पर भी दलितों के उद्धार हेतु उल्लेखनीय कार्य किए। अम्बेडकर ने, गाँधी के विपरीत, माना कि भारत में दलितों की निम्न स्थिति के पीछे हिन्दू धर्म में प्रचलित वर्णव्यवस्था तथा ब्राह्मणवाद ही उत्तरदायी है। उन्होंने ऐतिहासिक विश्लेषण के आधार पर यह सिद्ध किया कि अछूत प्राचीन काल के मूल बौद्ध वंशज है। ब्राह्मणों ने उन्हें गोमांस खाने पर मजबूर किया तथा उन्हें अछूत बना दिया ताकि वे टूटे, अपवित्र, भूमिहीन और भद्र समाज की परिधि से दूर पड़े रहें।⁸ अतएव अम्बेडकर ने दलित वर्ग की समस्याओं की समाप्ति हेतु वर्णव्यवस्था की समाप्ति पर बल दिया। वस्तुतः उन्होंने दलित वर्ग को सामाजिक न्याय की उपलब्धि कराने हेतु स्वयं दलित वर्ग में चेतना उत्पन्न करने का प्रयास किया। इस हेतु उन्होंने दलितों को 'शिक्षित बनो', संगठित हो, संघर्ष करने का नारा दिया।⁹ इस हेतु उन्होंने 1924 में बहिष्कृत हितकारिणी सभा 1936 में स्वतंत्र मजदूर दल तथा 1942 में अखिल भारतीय शेड्यूल कास्ट फेडरेशन का निर्माण किया।

समाजवादी चिन्तन की भारतीय धारा ने भी भारतीय समाज में दलित, पिछड़े, मजदूर किसान तथा गरीब वंचित आदि वर्गों के प्रति हो रहे अन्याय के विरुद्ध आवाज उठायी। समाजवादी चिन्तक जय प्रकाश नारायण की मान्यता थी कि सामाजिक, आर्थिक शैक्षणिक और राजनीतिक स्थिति में आमूलचूल परिवर्तन लाकर भारत को असत्य, अन्याय, असमानता, भ्रष्टाचार व दमन से मुक्त कराया जा सकता है। जिससे वास्तविक विकेन्द्रित लोकतांत्रिक व्यवस्था स्थापित हो सकेगी।¹⁰ पाश्चात्य समाजवादियों की भांति भारतीय समाजवादी चिन्तकों ने भी भारतीय समाज के अन्यायी

स्वरूप के पीछे पूँजीवादी व्यवस्था तथा धन के असमान वितरण को प्रमुख कारण बताया। इस स्थिति को समाप्त करने हेतु राम मनोहर लोहिया ने नवीन समाजवाद का नारा दिया इसके अन्तर्गत उन्होंने सभी उद्योगों व बैंकों तथा बीमा कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण, जनसामान्य के जीवन स्तर में सुधार तथा एक विश्व संसद की स्थापना पर बल दिया।¹¹ इसी प्रकार विनोबा भावे ने इस अन्याय का प्रतिकार ग्रामदान, भूदान, तथा सम्पत्ति दान जैसे सामाजिक आन्दोलन द्वारा किया।

इस प्रकार उपरोक्त के अध्ययन और विश्लेषण से स्पष्ट है कि यद्यपि भारतीय राजनीतिक चिन्तन में सामाजिक न्याय की अवधारणा प्राचीनकाल से विद्यमान है, तथापि भारतीय चिन्तन में, आधुनिक काल में इसके लक्षण स्पष्ट रूप से परिलक्षित होते हैं। इस संदर्भ में भारतीय राजनीतिक चिन्तकों की विशिष्टता यह है कि पाश्चात्य चिन्तकों के विपरीत इन्होंने न केवल वैचारिक रूप से अपितु व्यवहारिक स्तर पर भी भारतीय समाज में उपस्थित कुरीतियों, कुप्रथाओं, शोषण व अन्याय की भावना का विरोध किया। वास्तव में इसी विरोध ने आगे चलकर व्यापक रूप भी धारण किया। फुले, नायकर तथा अम्बेडकर जैसे चिन्तक भारत में आर०पी०आई०, दलित पैन्थर्स और ब०स०पा० जैसे राजनीतिक दलों हेतु प्रेरणास्त्रोत सिद्ध हुए। इसी प्रकार गाँधी की सामाजिक न्याय सम्बन्धी विचार स्वतंत्रता पूर्व से ही कांग्रेस हेतु मार्गदर्शक का कार्य करते रहे हैं। इसी प्रकार सामाजिक न्याय पर समाजवादी चिन्तन ने भी भारत में साम्यवादी दलों व समाजवादी पार्टी हेतु वैचारिक आधार प्रदान किया। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि भारतीय राजनीतिक चिन्तकों ने अपने चिन्तन में भारतीय समाज की वास्तविकता के प्रति संवेदनशीलता प्रदर्शित की तथा सामाजिक न्याय की अवधारणा को वैचारिक और व्यवहारिक स्तर पर क्रियान्वित करके अपनी प्रासंगिकता बनाए रखी।

I UnHkz %

1. एंज़ीव, हेवड, 2002; पॉलिटीक्स, हैम्पशायर, पृ० 43
2. गाबा, ओम प्रकाश, 2002; 'राजनीतिक चिन्तन की रूपरेखा', मयूर पेपर बैक्स, नोएडा, पृ० 5.
3. वर्मा, वी०पी०; 'आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन', लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा, पृ० 85-87.

4. ग्रोवर, बी०एल०, यशपाल, 1993; 'आधुनिक भारत का इतिहास', एस० चन्द्र एण्ड कम्पनी लिमिटेड, नई दिल्ली, पृ० 384.
5. भारती, कँवल, 2007; 'दलित विमर्श की भूमिका', इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ० 512-52.
6. गाबा, ओम प्रकाश, 2002; 'राजनीतिक चिंतन की रूपरेखा', मयूर पेपर बैक्स, नोएडा पृ० 343.
7. वर्मा, पी०पी०, 2003; 'आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन' लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा, पृ० 395.
8. शाह धनश्याम, 2008; 'अस्मिताओ का सहअस्तित्व', अभय कुमार दूबे (सम्पा०), 'आधुनिकता के आइने में दलित', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० 2010
9. वर्मा, श्रीराम, 2008; 'भारतीय राजनीतिक विचारक', सी०बी०सी०, जयपुर, पृ० 525
10. राम, रतन. यागी, रूचिय, 2003; 'भारतीय राजनीतिक चिन्तन', मयूर पेपर वैक्स, नोएडा, पृ० 403.
11. अमेश्वर, अवस्थी. अवस्थी, रामकुमार, 1996; 'आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन', रिसर्च पब्लिकेशन, जयपुर, पृ० 541,

I kekftd U; k; dh vo/kkj .kk dk fodkl MKND jktsk døkj fl g*

प्राचीनकाल में सामाजिक न्याय की अवधारणा सद्गुणों पर आधारित थी, मध्यकाल में इसमें कानूनी रूप ग्रहण किया तथा वर्तमान समय में यह सामाजिक न्याय पर आधारित है। वस्तुतः यह सामाजिक विज्ञान के अन्तर्गत आता है। लेकिन इससे हिन्दी साहित्य भी अछूता नहीं है। प्रस्तुत शोध पत्र में द्वितीयक स्रोतों एवं अन्वेषणात्मक शोध प्रणाली का प्रयोग किया गया है। यह अध्ययन भारतीय समाज में परिवर्तन का सूचक है।

आज सामाजिक न्याय को विशेष रूप से मान्यता प्राप्त है। इसी के अनुरूप आधुनिक भारतीय चिन्तन में भी सामाजिक न्याय को प्रमुख स्थान दिया गया है सामाजिक न्याय से अभिप्राय एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करना है जिसमें धर्म, जाति, लिंग आदि के आधार पर कोई भेदभाव नहीं हो तथा सभी को अपने विकास के समान अवसर प्राप्त हो।¹

सामाजिक न्याय की अवधारणा का प्रस्फुटन बौद्ध दर्शन में होता है। बौद्ध दर्शन ने भारतीय समाज के पद सोपानिक रूप तथा वर्ण व्यवस्था खण्डन करके एक समानतापरक समाजव्यवस्था बनाने का विचार प्रस्तुत किया। बौद्ध दर्शन के पश्चात् भारतीय पुनर्जागरण के पिता राजा राम मोहन राय ने हिन्दू धर्म की विभिन्न कुरीतियों और कुप्रथाओं का विरोध किया तथा महिला के हित में विशेष प्रयास किए।² इसी प्रकार दयानन्द सरस्वती ने वर्णव्यवस्था के कर्म सिद्धान्त को मान्यता प्रदान करते हुए शूद्रों तथा स्त्रियों को वेद पढ़ने, शिक्षा प्राप्त करने तथा यज्ञोपवीत धारण करने आदि का समर्थन किया।

ज्योतिबा फुले व नायकर ने भी अपने चिन्तन में दलित वर्ग शोषण हेतु वर्ण व्यवस्था तथा ब्राह्मणवाद को प्रमुख रूप से उत्तरदायी माना तथा

*असि0प्र0, राजनीति विज्ञान, बाबू जगजीवन राम विधि संकाय, बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी, उ0प्र0

व्यापक स्तर पर इसके निषेध पर बल दिया। कालान्तर में फुले व नायकर के विचार दक्षिण भारत में पिछड़ा वर्ग आन्दोलन हेतु प्रेरणादायी सिद्ध हुए।

हिन्दी साहित्य के रचनाकारों में सामाजिक न्याय की माँग या दावा प्रबल रूप से मिलता है, कबीर जुलाहे थे। संत सेना नाई जाति में पैदा हुए थे। संत कमाल जुलाहे कबीर के पुत्र थे। धर्मदास बनिया जाति में उत्पन्न हुए थे। दादू दयाल बनिया जाति में जन्मे थे। बूला साहब कुर्मी थे और संत गुलाब साहब हलवाई का काम करते थे। दीन दरवेश लोहार थे। बिहार वाले दरिया दास मुसलमान थे। कश्मीर की महिला संत लल्ला मेहतर जाति की थी। जबकि महाराष्ट्र के नामदेव छीपी नामक जाति में पैदा हुए थे। उनमें कबीर अन्यतम हैं। कबीर का रचनाकर्म मध्यकाल है।³ मध्यकाल में हिन्दू मुस्लिम मतावलम्बियों के मध्य साम्प्रदायिक तनाव विद्यमान था, परन्तु कबीर किसी वर्ग धर्म सम्प्रदाय के प्रति झुकाव प्रस्तुत नहीं करते हैं। बल्कि वे दोनों ओर से तटस्थ रहकर सामाजिक सद्भाव एवं समरसता का वातावरण सृजित करते हैं।

कबीर का मानना था कि सभी मनुष्य समान हैं उनमें किसी भी प्रकार का भेद व्यर्थ है। कबीर ने अपनी कविता के माध्यम से पूँजीवाद का विरोध करते हुए। धन के अतिरिक्त संचय का विरोध किया है। इसके साथ ही कबीर ने मानव मात्र की समता एवं प्रतिष्ठा पर बल देते हुए नारी को भी भलीभांति सम्मानित किया है तथा सामंती परिवेश में नारी को गरिमा सम्पन्न किया है।

गाँधी जी व अम्बेडकर ने भारत में सामाजिक न्याय स्थापित करने हेतु वैचारिक व व्यवहारिक दोनों स्तरों पर महत्वपूर्ण कार्य किये। गाँधी ने जहाँ कर्म आधारित वर्णव्यवस्था के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए जातिप्रथा, कुरीतियों व कुप्रथाओं के प्रति प्रबल आंदोलन किया। वहीं अम्बेडकर ने दलित की निम्न स्थिति के पीछे मुख्य कारण वर्ण व्यवस्था व ब्राह्मणवाद को माना⁴ और दलितों को शिक्षित व संगठित बनाकर इस स्थिति के प्रतिकार हेतु तैयार करने का प्रयास किया।⁵

भारतीय समाजवादी चिन्तकों ने भी समाज में दलित वंचित वर्गों के अन्याय के विरुद्ध आवाज उठायी तथा राजनीतिक विकेन्द्रीकरण, उद्योगों, बैंको के राष्ट्रीयकरण और भूदान जैसे आंदोलनों के द्वारा इस अन्याय को दूर करने का प्रयास किया।

स्पष्ट है कि भारतीय चिन्तक में सामाजिक न्याय की अवधारणा प्राचीनकाल की अपेक्षा आधुनिककाल आंदोलनों तथा राजनीतिक दलों की विचारधारा को व्यापकता से प्रभावित किया है। इस प्रकार 'सामाजिक न्याय' के प्रति झुकाव ने न केवल भारतीय चिन्तन की संवेदनशीलता प्रदर्शित की अपितु इसकी व्यापक प्रभावशीलता व प्रासंगिकता भी बनाए रखा।

I UnHkz %

1. गाबा, ओम प्रकाश: राजनीतिविज्ञान विश्वकोष, मयूर पैपरबैक्स नोएडा संस्करण- 2007 पृ0 477
2. आलोचना, प्रधान संपादक : नामवर सिंह, अप्रैल-जून 2005, पृ0 60
3. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र 2002; हिन्दी साहित्य का इतिहास, (नवीन संस्करण), पृ0 50
4. अम्बेडकर, बी. आर., एनहिलेशन ऑफ कॉस्ट, पृ. 47
5. मेश्राम, एल0जी0 (अनुवाद एवं संपादन), 1996; महात्मा ज्योतिबा फुले रचनावली, 'विमल कीर्ति' संशोधित संस्करण, पृ0 138

nkfyr vkj ukjh foe'kz % I kekftd U; k;
ds fo'kzk I UnHkz ea
MKD I rksk dckj f=i kHh*

प्रस्तुत शोध पत्र में भारतीय समाज के संस्तरण प्रणाली में दलित और नारी विमर्श के विविध आयामों को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। जो भारतीय समाज में बदलाव के संकेतों को स्पष्ट करता है। यह अध्ययन द्वितीयक स्रोतों पर आधारित है।

भारत में पितृसत्तामूलक ब्राह्मणवादी सत्ता-संस्थानों ने सचेतन रूप से न केवल दलित समाज को बल्कि स्त्री समुदाय को भी समाज-इतिहास से बेदखल कर दिया। दलित समाज को जहां उसने समाज से निष्कासित कर दिया वहीं स्त्री को उन्होंने घर की चारदीवारी में कैद कर लिया। हालांकि इसमें दलित स्त्री की स्थिति सवर्ण समुदाय की स्त्रियों से थोड़ी अलग थी। दलित स्त्रियां जहां ब्राह्मणवाद के साथ-साथ पितृसत्ता के शोषण का भी शिकार थीं वहां सवर्ण स्त्रियाँ केवल पितृसत्ता के अन्याय का शिकार थीं। मुक्त दोनों में से कोई भी नहीं थी। दलित स्त्रियां जहां जाति-प्रथा मुक्ति के लिए दलित समुदाय के साथ थीं वहीं दलित समुदाय के भीतर बैठे पितृसत्तात्मक मूल्यों से उनका शोषण जारी था। लेकिन उनका यह शोषण सवर्ण स्त्रियों से थोड़ा अलग था। श्रम की प्रक्रिया से सीधे जुड़ी होने के कारण वह घर से बाहर रहती थीं। धर्म का आडंबर और पितृसत्ता के मूल्य उस पर उतने हावी न थे कि वह सवर्ण स्त्रियों की तरह गुलाम-सा जीवन व्यतीत कर सकें। दलित स्त्री सारी जिंदगी अपने पति के साथ रहने के लिए मजबूर नहीं थी। वह अपनी मर्जी से पति को छोड़कर दूसरे पुरुष के साथ विवाह करने के लिए स्वतंत्र थी। पति की मृत्यु के बाद उसे सवर्ण स्त्रियों की भांति न तो सती होना पड़ता था और न ही विधवा का जीवन व्यतीत करने के लिए दलित समाज मजबूर कर सकता था। इसलिए

*पी0डी0एफ0, समाजशास्त्र विभाग, बी0एच0यू0, वाराणसी, उ0प्र0

सती-प्रथा और विधवा पुनर्विवाह जैसे आंदोलन का दलित स्त्री के लिए कोई औचित्य नहीं था।'

जहाँ तक सवर्ण स्त्रियों की बात है तो पितृसत्ता का दंश सबसे ज्यादा उन्हें ही भोगना पड़ा है। चूंकि समाज में उन्हें पुरुष से कमतर माना जाता था। वह खेती एवं बाहरी श्रम की प्रक्रिया से वंचित कर दी गई इसलिए खुले गगन को वह घर की चारदीवारी से ही देखने को अभिशप्त थी। नैतिकता और धार्मिक मूल्यों को उस पर इस हद तक थोपा गया कि सवर्ण स्त्रियों की मानसिकता ही एक प्रकार से धार्मिक-नैतिक बना दी गई। पति उसके लिए परमेश्वर का रूप था और सारी जिंदगी उसे पति की सेवा करने में ही बितानी पड़ती थी। 'पति परमेश्वर' के साथ-साथ उसे 'पतिव्रता' कहकर उसे एकनिष्ठ बनाने की पूरी कोशिश की गई। हालांकि सवर्ण पुरुष कभी भी 'पत्नीव्रता' की कसौटी अपने लिए नहीं बना पाया। न तब बना पाया था और न ही आज बना पाया।

आधुनिक समाज बनने की प्रक्रिया में स्त्री की मुक्ति के लिए तमाम आंदोलन चले जिन्हें भारत का पुनर्जागरण या नवजागरण काल कहा जाता है। इसके अंतर्गत स्त्री शिक्षा, सती प्रथा का खात्मा, विधवा पुनर्विवाह पर बल और बाल विवाह पर प्रतिबंध जैसे मुद्दे शामिल थे। राजा राममोहन राय से लेकर ईश्वरचंद्र विद्यासागर आदि समाज सुधारकों ने इन आंदोलनों को चलाया और इसमें में उन्हें कुछ मुद्दों पर सफलता भी मिली। लेकिन अपनी तमाम सफलताओं, संघर्षों के बावजूद ये आंदोलन सवर्ण स्त्री के मुद्दों तक ही सीमित रहे। इस नवजागरण ने दलित स्त्री और जाति प्रथा के सवाल पर कोई आवाज नहीं उठाई।

उपर्युक्त पृष्ठभूमि में दलित और स्त्री विमर्श को लेकर कुछ महत्वपूर्ण बिंदुओं को सामने रखने की कोशिश की गई है। उसी में यह बताया गया है कि दलित स्त्री और सवर्ण स्त्री के शोषण की प्रकृति कैसे भिन्न है। साथ ही उसी में यह बताया गया है कि दलित मुक्ति आंदोलन ने यह महसूस किया है कि अन्य शोषित समाज को भी इस मुक्ति आंदोलन में शामिल करना चाहिए जबकि सवर्ण सुधारवादी दलित मुक्ति आंदोलन या जाति-प्रथा विरोधी आंदोलन को अपने सुधारवादी आंदोलन में शामिल नहीं कर पाता। न वह पहले शामिल करने को तैयार था और

न ही अब तैयार है। यही हालत स्त्रीवादी आंदोलन के साथ भी दिखाई देती है। स्त्रीवादी आंदोलन भी किसी न किसी रूप में सवर्ण संस्कारों से प्रभावित दिखाई देता है।

नारीवादी लेखिका अनामिका कहती हैं कि—“स्त्री के संदर्भ में कृत मूल ग्रंथ है फ्रेडरिक एंगेल्स का *The Origin of the Family, Private Property, and the State* जो यह मानता है कि स्त्री का शोषण वहाँ से शुरू हुआ जहाँ से वैयक्तिक संपत्ति का प्रावधान। उत्पादनों के साधनों पर जिन थोड़े से लोगो का प्रभुत्व हुआ, वे मर्द थे और कॉर्पोरेट कैपिटलिज्म तथा 'इम्पीरियलिज्म' के साथ 'मेल शॉवेनिज्म' भी दरअसल उन्हीं का दाय है। पितृसत्तात्मक समाज के मूल में है पूंजीवाद और यदि हर वर्ग, हर समुदाय की स्त्रियों का अभ्युदय होना है—सिर्फ वर्ग विशेष की चुनी हुई स्त्रियों का नहीं—तो पूंजीवादी व्यवस्था ही ध्वस्त कर देनी होगी। समाजवादी व्यवस्था में किसी का किसी पर आर्थिक परावलंबन होगा ही नहीं तो स्त्रियाँ भी पुरुषों के शोषण चक्र से मुक्त हो लेंगी, और तब वे किसी पुरुष से अपना संबंध जोड़ेगी तो उस वरण को परिसीमित और कलंकित करनेवाला कोई आर्थिक आधार नहीं होगा।²

डॉ० भीमराव अम्बेडकर स्त्री—मुक्ति के सच्चे हिमायती थे। उनका कहना था कि— “स्त्री वर्ग भी अपना संगठन बनाए और अपने अधिकारों की रक्षा करे। एकत्रित होकर देश की समस्याओं को सुलझाने में सहयोग दें। सामाजिक बुराइयों को दूर करने में भी स्त्री वर्ग अधिक सहायता कर सकती है। किसी भी समाज की प्रगति स्त्री वर्ग की उन्नति से ही नापी जा सकती है।³

किसी भी समाज की प्रगति का पैमाना बाबा साहेब ने स्त्री की उन्नति को माना है। उनके दृष्टिकोण से समाज का प्रत्येक शोषित—दमित तबका शामिल है। महाराष्ट्र में कुछ वेश्याएं डॉ० अम्बेडकर के पास आईं तो उन्होंने कहा—“आप मुझसे पूछोगी कि हम अपनी जीविका कैसे चलाएंगी? मैं आपको यह नहीं बताना चाहता। इसके लिए सैकड़ों रास्ते हैं। लेकिन मैं आग्रह करता हूँ कि तुमको इस अपमानित जीवन को त्यागना चाहिए। आपको चाहिए की अन्य वर्गों की महिलाओं की तरह शादी कर सामान्य जीवन स्थापित करें, न कि ऐसी परिस्थितियों में रहें जो आपको

वेश्यावृत्ति की ओर अनिवार्य रूप से घसीटती हों।⁴ समकालीन परिदृश्य को बदलने के लिए इन दोनों ही मुक्तिकामी आंदोलनों को साथ में आना पड़ेगा और इन्हें मुक्ति का सांझा कार्यक्रम बनाना ही पड़ेगा।

I UnHkz %

1. बड़ल्या. सूरज, 2010; सत्ता संस्कृति और दलित सौंदर्यशास्त्र, अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली, पृ0 191–194
2. अनामिका; स्त्रीत्व का मानचित्र
3. नैमिशराम मोहनदास, अकेला ए0 आर0 (सम्पादक); बाबा साहेब ने कहा था, पृ0 60
4. वही, पृ0 60

dchj vkj | kekftd U; k; ds | jkdkj MKD d'ik fdUtYde*

न्याय की अवधारणा प्राचीनकाल से ही प्राच्य तथा पाश्चात्य जगत के चिंतन का केंद्र बिंदु रही है। पाश्चात्य परम्परा में न्याय को जहाँ सद्गुणों पर आधारित माना गया तो वहीं प्राच्य परम्परा में विशेषतः भारतीय परिप्रेक्ष्य में न्याय को धर्म से जोड़ कर देखा गया। यहाँ धर्म का तात्पर्य किसी सम्प्रदाय विशेष से न होकर “स्व-कर्तव्यपालन” से है।

सामाजिक न्याय से तात्पर्य है कि सामाजिक जीवन में मानव मात्र की गरिमा स्वीकार्य हो। जाति, धर्म, लिंग, वर्ण, क्षेत्र आदि के स्तर पर सभी मनुष्यों में समानता का व्यवहार तथा किसी के भी साथ भेदभाव न हो। शिक्षा एवं विकास के अवसर सबको समान रूप से प्राप्त हो अर्थात् सभी लोग मनुष्य मात्र होने के नाते समस्त सामाजिक साधनों का समान रूप से उपभोग व उपयोग कर सकें।

ध्यातव्य है कि जहाँ विभिन्न पक्षों के परस्पर विरोधी दावों पर विचार किया जाता है, वहाँ “सामाजिक न्याय” का विचार निर्धन पक्ष को विशेष सहायता और संरक्षण प्रदान करने की माँग करता है।¹ सुप्रसिद्ध पाश्चात्य चिंतक एन्ड्रयू हेवुड के अनुसार सामाजिक न्याय की अवधारणा समानता की ओर अभिनत रहती है।² इस प्रकार सामाजिक न्याय की अवधारणा मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा तथा किंचित मात्र भी असमानता के नकार की अवधारणा है।

जहाँ सामाजिक न्याय का प्रश्न है तो स्पष्टतः यह अवधारणा एक आधुनिक अवधारणा है जो कि मूलरूप से राजनीतिशास्त्र व समाजशास्त्र के विषय क्षेत्र के अन्तर्गत है। हिन्दी साहित्य में आदि काल से ही मानव मात्र की गरिमा, सामाजिक सद्भाव, समानता आदि की माँग होती रही है और सिद्ध, नाथ, जैन साहित्य में यह सप्रमाण उपस्थित है। परन्तु सामाजिक न्याय का सबसे मुखर स्वर कबीर की कविता में उपलब्ध है।

*845 पुराना कटरा, विश्वविद्यालय मार्ग, इलाहाबाद, उ0प्र0

कबीर का रचनाकाल 14 वीं शताब्दी का है। इस्लामिक कठमुल्लावादियों को फटकारते हुए वे लिखते हैं—

दर की बात कहौ दरबेसा, पातसाह है कौने भेसा।
 कहाँ कूच कहेँ करै मुकामा, कवन सुरति के करहु सलामा।
 मै तोहिं पूछौं मुसलमाना, लाल जरद की नाना बाना।
 काजी काज करहु तुम कैसा, घर—घर जबह करावहु भैंसा।
 बकरी मुरगा किन फरमाया, किसके हुकुम तु छुरी चलाया।
 दरद न जानहु पीर कहावहु, बैता पढ़ि—पढ़ि जग भरमावहु।
 कहहिं कबीर एक सैयद कहावै, आपु सरीखै जग कबुलावै।
 दिन को रोजा रहतु हौ, राति हनत हो गाय।
 यह तो खून वह बंदगी, क्यों कर खुसी खोदाय।¹³

यहाँ कबीरदास कहते हैं कि हे दरबेस (फकीर) तुम पते की बात कहो या ईश्वर के स्थान के विषय में बताओ, तुम्हारा बादशाह किस वेश में रहता है? कहाँ की यात्रा करता है और कहाँ पर पड़ाव डालता है तुम किस रूप को नमस्कार करते हो? हे मुसलमान मैं तुमसे पूछता हूँ खुदा लाल है या पीला या अनेक वर्णों का है। हे काजी! तुम कैसा कार्य करते हो घर—घर भैंसों की हत्या करवाते हो। बकरी, मुर्गा कटवाने का आदेश किसने दिया किसके आदेश से तुम छुरी चलवाते हो। जीव—जन्तुओं की पीड़ा नहीं समझते हो व्यर्थ में धर्म गुरु कहलाते हो। शायरी पढ़—पढ़ कर संसार को भ्रमित करते हो। कबीर कहते हैं जो अपने को सैयद कहलाता है वह भी सारे संसार का अपने समान बनाने की उचित अनुचित कार्य करता है। मुसलमान लोग दिन में रोजा रखते हैं रात को गाय मारते हैं। एक ओर खून और दूसरी ओर प्रार्थना ऐसी कारतूत पर खुदा क्यों खुश हो।

इस प्रकार यहाँ एक ओर कबीर मुसलमानों को इस्लाम धर्म की विसंगति उजागर कर हिंसा की निंदा करते हैं तो वहीं हिन्दू धर्म की छुआछूत को भी वे कही से सत्य एवं उचित नहीं मानते अपितु इस छुआछूत के मूल में जो ब्राह्मणवादी व्यवस्था है, उस पर कटाक्ष करते हुए वे कहते हैं कि—

कहुं पाँडे सुचि कवन ठाँव,
 जिहि घरि भोजन बैठि खाऊँ।।टेक।।

माता जूठी पिता पुनि जूठा, जूठे फल चित लागे ।
 जूठा आँवन जूठा जाँनों, चेतहु क्यँ न अभागे ॥
 अन्न जूठा पाँनी पुनि जूठा, जूठे बैठि पकाया ।
 जूठी कड़छी अन्न परोस्या, जूठे जूठा खाया ॥
 चौका जूठा गोबर जूठा, जूठी का ढीकारा ।

कहै कबीर तेई जन सूचे, जे हरि भजि तजहिं बिकारा ॥⁴

अर्थात् हे पंडित! कहो कौन स्थान शुद्ध है जिस स्थान (घर) में बैठकर मैं भोजन करूँ। सभी कुछ माया से युक्त एवं उसके आवरण में हैं। माता, पिता दोनों ही जूठे हैं क्योंकि वे माया से लिप्त हैं। मानव का मन भी विषयरूपी फलों में लगा है। आना-जाना भी कई बार हो गया इसलिए वह भी जूठा है। हे अभागे जीव! अब भी नहीं चेत जाते हो। अन्न, पानी, पकाने वाले सभी जूठे हैं। जूठी कड़छी से जूठे पात्र में परोसा गया है, जूठा आदमी (जीव) जूठा ही खा रहा है। विषय वासनाओं का भोग जीव बार-बार जन्म लेकर युगों से करता आ रहा है। चौका जूठा है, गोबर जूठा है, चौके की कारा (रेखा) भी जूठी है। सम्पूर्ण संसार में अशुद्धता का ही प्रसार है क्योंकि सभी विकारग्रस्त हैं। कबीर कहते हैं कि वही भक्त शुद्ध है, जिसने हरिभजन करके विकारों का त्याग कर दिया है। कबीर का मानना था कि ब्राह्मण वही है जो ब्रह्म विचारे और काजी वही है जो काया विचारे।

इस प्रकार कबीर दोनों धर्मों, वर्गों से समान दूरी रखते हैं। दोनों वर्गों, धर्मों के नकारात्मक पक्षों को लक्षित कर, वास्तविक अर्थों में "सैकुलर" क्या होता है, यह स्पष्ट भी करते हैं। दरअसल कबीर का मत है कि "न काहू से दोस्ती न काहू से बैर"। वे किसी विशेष धर्म, वर्ग के साथ नहीं थे। किसी वर्ग, धर्म विशेष के साथ होना समझौता परस्त होना था। समझौता उनकी प्रकृति में नहीं था।⁵ मानव मात्र का कल्याण एवं प्रतिष्ठा उनकी कविता का अभीष्ट था—

ऐसा भेद बिगूचनि भारी ।

बेद कतेब दीन अरु दुनियाँ कौन पुरिख कौन नारी ॥टेक ॥

एक रूधिर एकै मल मूतर एक चाँम एक गूदा ।

एक बूँद तै सृष्टि रची है कौन बांहन कौन सूदा ॥⁶

अर्थात् भेद बुद्धि वास्तविकता का गोपन है। वेद, कुरान, धर्म और संसार, पुरुष और नारी के आधार पर कल्पित भेद व्यर्थ हैं। सभी पुरुष और नारी में एक ही खून, एक मल-मूत्र, एक ही चर्म तथा एक ही माँस है। एक ही बिन्दु (शुक्र) से सृष्टि का निर्माण हुआ है फिर ब्राह्मण और शूद्र का भेद कैसा। वास्तविक अर्थों में समानता की यह माँग समस्त मध्यकालीन कविता में सामाजिक न्याय का प्रबल दावा प्रस्तुत करती है।

वस्तुतः कबीर किसी भी धर्म वर्ग की ओर उन्मुख नहीं हुए सभी से तटस्थ रहते हुए सामाजिक सद्भाव की स्थापना उनका साध्य था, इन अर्थों में वे सच्चे क्रान्तिवाहक थे। कबीर की कविता के इस गुण के कारण ही आज के क्रान्तिकारी भी उनको महत्व देते हैं।⁷

कार्लमार्क्स, एंजिल्स, मांटेस्क्यू आदि तार्किक विचारकों के काफी पूर्व ही कबीर ने पूँजीवादी व्यवस्था का विरोध तथा न्याय तथा समता आधारित व्यवस्था का समर्थन अपनी रचना धर्मिता के माध्यम से किया था। धन संचय की प्रवृत्ति पूँजीवादी दर्शन का आधार है इसका खण्डन करते हुए कबीर कहते हैं:

कबीर सो धन संचिए जो आगै कूँ हाई।

सीस चढ़ाए पोटली, ले जात न देख्या कोई।⁸

जीवन निर्वहन हेतु आर्थिक संतुलन हेतु कबीरदास जी का बहुमूल्य सुझाव था कि प्रत्येक व्यक्ति के पास इतना धन हो, जिससे कि वह अपना तथा अपने परिवार का भरणपोषण भली-भाँति कर सके तथा उसके अतिथि भी भूखे न जाएं—

साँई इतना दीजिए, जामें कुटुम्ब समाय।

मैं भी भूखा न रहँ, साधु न भूखा जाय।⁹

नाथ परम्परा के प्रभाव में यद्यपि कबीर ने नारी के कामिनी रूप को नकारा है। परन्तु कुछ आलोचक इस कारण कबीर को नारी निंदक घोषित करते हैं जो कि अनुचित है। चूंकि उन्होंने अपनी रचनाधर्मिता के माध्यम से सामाजिक समता पर बल दिया है। अतः वे नारी को भी भली-भाँति सम्मानित भी करते हैं। नारी हमारे समाज की आधी आबादी है अतः उसकी अर्द्धदासता समाप्त होनी चाहिए। उन्होंने नारी की अवहेलना करने वालों के समक्ष घोषित किया—

नारी निंदा मत करो, नारी नर की खान।

नारी से नर होत है, ध्रुव प्रह्लाद समान।।¹⁰

अन्ततोगत्वा कह सकते हैं कि सामाजिक न्याय का मुहावरा आधुनिक युग की अवधारणा है। परन्तु उपर्युक्त के विवेचन से स्पष्ट है कि यह बीज रूप में कबीर की कविता में स्पष्ट विद्यमान है। फक्कड़ व अक्खड़ कबीर ने जीवन की यथार्थता व गहराई को अच्छी तरह पहचाना तथा मानव मात्र की गरिमा एवं समता की प्रतिष्ठा स्वरचनाधर्मिता के माध्यम से की। जाति, धर्म, नस्ल आदि के खँचों में बँटे समाज को सद्भाव व समरसता की जो दिशा कबीर ने दिखाई थी उसकी आज अहम आवश्यकता है। कहना ना होगा कि जब तक कबीर की कविता के मर्म को नहीं समझा जायेगा तब तक हिंसा, साम्प्रदायिकता, असमानता समाज में विद्यमान रहेगी और सामाजिक न्याय की प्राप्ति एक संभावना मात्र ही रह जाएगी।

I UnHkZ :

1. गाबा, ओम प्रकाश, 2007; राजनीतिविज्ञान विश्वकोश, मयूर पैपरबेक्स नोएडा पृ0 477
2. एंज़ीव, हेवड, 2002; पॉलिटीक्स, हैम्पशायर, पृ0 43
3. शर्मा, राम किशोर; कबीर ग्रंथावली, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद: अष्टम संस्करण, पृ0 645
4. वही, पृ0 460
5. मिश्र, शिवकुमार, 2001; भक्ति आंदोलन और भक्ति काव्य, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ0 57
6. शर्मा, रामकिशोर: कबीर ग्रंथावली, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, अष्टम संस्करण पृ0 344
7. माचवे, प्रभाकर, 2002; कबीर, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, पृ0 28
8. शर्मा राम किशोर; कबीर ग्रंथावली, पृ0 203
9. शर्मा राम किशोर; कबीर ग्रंथावली, पृ0 268
10. वंशी, बलदेव, 2002; पूरा कबीर, प्रकाशन संस्थान नई दिल्ली, पृ0 234

e/; dkYkhu | ekt] | 1Ñfr v^७
dchj dk U; k; n'k^७
Mk^७ ufYkuh fl ७*

मध्यकालीन सामाजिक व्यवस्था में कबीर का आविर्भाव हुआ। वह समय भारतीय इतिहास में सामाजिक असमानता और राजनीतिक उथल-पुथल का था। नियम, संविधान और जनचेतना का लोप हो गया था। जनता की उन्नति के लिए तथा उनकी आर्थिक स्थिति के सुधार के लिए कोई प्रयास नहीं होता था। हिन्दू और मुस्लिम राजाओं में परस्पर युद्ध होते रहते थे। जातिगत भेदभाव सम्पूर्ण समाज में व्याप्त था।

मुसलमानों के कट्टरपंथी विचारधारा ने समाज के संगठित स्वरूप वर्ण-व्यवस्था का ढाँचा भी विश्रंखलित कर दिया था। विशेष वर्ग के लोग सुख-सुविधाओं की लालच में हिन्दू धर्म छोड़कर इस्लाम धर्म के अनुयायी बन रहे थे, जिसके कारण इन्हें हिन्दू घृणा की दृष्टि से देखते थे। उच्च व निम्न वर्ग का भेदभाव अपने चरम रूप में था। धार्मिक कर्मकाण्ड में भारतीय जनता लिप्त थी, पारस्परिक रूढ़ियां अराजकता का रूप ले रही थी। स्त्रियों की दशा अत्यन्त दयनीय थी। उन्हें संस्कारविहीन और उपेक्षित समझा जाता था। उन्हें मात्र उपभोग की वस्तु समझा जाता था।

जनता का बौद्धिक क्षरण हो रहा था। राष्ट्रभक्ति की भावना का अभाव था। चेतना शून्य जनता धार्मिक कर्मकाण्डों को पूरा करने के लिए प्राण त्यागने में भी संकोच नहीं करती थी। धर्म का पालन ही उनके लिए सर्वस्व था। जैन मतावलम्बी अहिंसा के पक्षधर थे, लेकिन उनके कृत्य पूरी तरह अहिंसक नहीं थे। धर्म सम्बन्धी मतभेद बढ़ते ही जा रहे थे। ऐसे समय में कबीर ने अपने अनुभव और प्रतिभा से धार्मिक संकीर्णताओं को लक्ष्य करके धर्म साधना के क्षेत्र में न्याय किया। कबीर जैसा अप्रतिम व्यक्तित्व हिन्दी साहित्य में दूसरा नहीं है, जिन्होंने किसी भी पथ और

*असि० प्र०, हिन्दी, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, चुनार, मीरजापुर, उ०प्र०

किसी भी धर्म साधना को पूर्णतया स्वीकार नहीं किया। उन्होंने मानवहित को ध्यान में रखकर अपना स्वतंत्र दृष्टिकोण बनाया। कबीर को किसी भी प्रकार के कर्मकाण्ड, विधि-विधान मान्य नहीं थे। अपने गुरु से प्राप्त 'राम' नाम का मंत्र लेकर वैष्णव भक्ति के महत्तर पक्ष को अपनाया। वहीं गुरुत्तर अथवा संकीर्ण पक्ष की कटु आलोचना की। उन्होंने एक ओर राम और वैष्णव को अपना साथी बताया—

“कबीर मेरे संगी दोई जण, एक बैश्नो एक राम,
वो है दाता मुक्ति का, वो सुमिरावै नाम।”¹

तो वहीं दूसरी ओर कहा—

“(कबीर) बैश्नो (बैस्नों) भया तो क्या भया बुझ्या नहीं वमेक।
छापा तिलक बनाई करि, दगध्या लोक अनेक।।”²

छापा तिलक लगाकर संसार को छलने वाले उन्हें अप्रिय थे, उनका मानना था कि भगवान की भक्ति हृदय मन से होनी चाहिए न कि माला जाप करने से—

“जप-तप पूजा अरचा जोतिग जग बौराना।

कागद लिखि-लिखि जगत भुलाना, मन ही मन न समाना।।”³

ईश्वर तो कण-कण में घट-घट में व्याप्त हैं। उन्होंने कहा भी है—

“कबीर को स्वामी घटि-घटि रह्यो समाई।।”⁴

कबीर के अनुसार ही एक सृष्टिकर्ता जो समष्टि-व्यष्टि को संचालित करता है—

“एक ही पवन, एक ही पानी, एक ही ज्योति संसारा।

एक ही खाक घड़े सब भाड़े, एक ही सिरजनहारा।।”⁵

उनका मत था कि ईश्वर एक है और सर्वशक्तिमान है उन्हें ढूँढने या आराधना करने के लिए किसी धार्मिक स्थल पर जाने की आवश्यकता नहीं है—

“एक निरंजन अलह मेरा, हिन्दू तुरक दुहूँ न मेरा।

पूजा करौं न निमाज गुजारौं, एक निराकार हिरदै नमस्कारौ।।”⁶

कबीर ने जो भी कहा है वह धर्म के नाम पर आपसी भेदभाव मिटाने के लिए कहा। उनकी दृष्टि में प्रत्येक मानव समान है।

जातिगत संकीर्णता से ग्रसित लोगों को धिक्कारते हुए उन्होंने कहा है—

“एक बूँद एक मल मूत्र, एक चाम एक गूदा।
एक ज्योति थै सब उतपना, कौन ब्राह्मण कौन सूदा।।”⁷

उन्होंने कहा है, संसार माया है, जिसके आकर्षण में मनुष्य फँसा रहता है इसलिए उन्होंने ज्ञान की महत्ता बताई है। उनका कहना है कि ज्ञान और भक्ति के अभाव में हमें मोक्ष नहीं मिल सकता, बल्कि ज्ञान भक्ति ही वह माध्यम है जिससे भव के जन्म-मरण के बन्धन से मुक्ति मिल सकती है। यह मनुष्य शरीर भी नश्वर है— जिसे हम विविध भाँति से शोभित, सेवित करते हैं—

“चोवा चंदन चरनत अंगा, सो तन जरै काठ के संग।
दास कबीर यहु कीन्ह विचारा, एक दिन हवै है हाल हमारा।।”⁸
जब हर मनुष्य की गति यही होनी है तो दर्प में अन्धा क्या होना?—

“मन रे तन कागद का पुतला
लागै बूँद विनसि जाइ छिन में, गरब कर क्या इतना।।”⁹
उन्होंने कहा, व्यर्थ का अभिमान मत करो, ईश्वर भक्ति के माध्यम से भवसागर पार करने का प्रयत्न मानव के लिए श्रेयस्कर है। उन्होंने लोगों को सावधान करते हुए कहा है—

“जब लग भाव भगति नहीं करिहौं। तब लग भवसागर क्यूँ
तिरिहौं।।”¹⁰

जब तक ईश्वर में सच्ची आस्था नहीं होगी, विश्वास नहीं होगा, तब तक भवसागर में तैरते रहना होगा। जन्म-मरण के चक्र में घूमना होगा। भक्ति के अभाव में मोक्ष सम्भव नहीं है। उन्होंने कहा भी है—

“भाव भगति विसवास बिनु, कहै न संसै सूल।

कहै कबीर हरि भगति बिन, मुक्ति नहीं रे मूल।।”¹¹

इस तरह से कबीर ने समाज को सीख दी है कि मानव का मानव से भेद नहीं होना चाहिए। आपसी वैमनस्य को छोड़कर सदमार्ग पर चलना चाहिए। प्रयत्न यह होना चाहिए कि ज्ञान और भक्ति के माध्यम से भाव के चक्र से मुक्ति मिले। उनकी सीख, उनका न्याय मानव को उदात्त बनाता है, हमें नैतिक आचरण से सम्बद्ध करता है, इसलिए उनकी प्रासंगिकता चिरकाल तक रहेगी।

I Un0Z %

1. गुप्त, माता प्रसाद, कबीर ग्रन्थावली, पृ0 43
2. वही, पृ0 78
3. दास, श्यामसुन्दर, कबीर ग्रन्थावली, पृ0 30
4. गुप्त, माता प्रसाद, कबीर ग्रन्थावली, पद-330
5. दास, श्यामसुन्दर, कबीर ग्रन्थावली, पद-55
6. गुप्त, माता प्रसाद, कबीर ग्रन्थावली, पद-338
7. कबीर ग्रन्थावली- पद-57, पृ0 106
8. वही, पद-93, पृ0 139
9. वही, पद-92, पृ0 138
10. कबीर ग्रन्थावली, पृ0 234
11. वही, पृ0 234

दादू कबीर के मार्ग के ही अनुयायी हैं पर उन्होंने अपना एक अलग पंथ चलाया जो, दादू पंथ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। दादूपंथी लोग इनका जन्म संवत् 1601 में गुजरात के अहमदाबाद नामक स्थान में मानते हैं इनकी जाति के सम्बन्ध में भी मतभेद हैं। कुछ लोग उन्हें गुजराती ब्राह्मण मानते हैं और कुछ लोग मोची या धुनिया। कबीर साहब की उत्पत्ति कथा से मिलती-जुलती दादू दयाल की उत्पत्ति कथा भी दादू पंथी लोग कहते हैं। उनके अनुसार बच्चे के रूप में साबरमती नदी में बहते हुए लाहीराम नामक एक नागर ब्राह्मण को मिले थे। चाहे जो हो, अधिकतर ये नीची जाति के ही माने जाते हैं।' ब्राह्मणों ने कबीर को विधवा ब्राह्मणी का पुत्र माना, रैदास को पूर्व जन्म का ब्राह्मण माना और अपने नीच कर्मों के कारण उसे चमार जाति में जाना पड़ा। दादू के बारे में भी एक कथा प्रचलित कर दी गई कि वे जाति से ब्राह्मण थे। क्या है इन सब के बीच अंतः संबंध? क्या कारण रहे होंगे कि इन तीनों का ही संबंध तथाकथित उच्च जाति के साथ जोड़कर बताया गया। हमें लगता है कि इन संतों ने उस समय की स्थापित चिंतनधारा, सत्ता और संस्कृति की जड़ों को बुरी तरह से हिलाकर रख दिया। नहीं बस चला तो इन्हें अपने में शामिल करने के लिए ब्राह्मण ही बना डाला। यह ऐसा है कि जब बौद्ध धर्म के विरोध के पश्चात् भी ब्राह्मण जाति इसका कुछ नहीं बिगाड़ पाई तो उन्होंने महात्मा बुद्ध को भी विष्णु का ही अवतार घोषित कर दिया। यानी कि विरोधी दर्शन, चिंतन, व्यक्ति की अस्मिता और भिन्नता को भी मिटाकर अपने में शामिल कर लो तो विरोधी मूल्यों का धीरे-धीरे अपने आप ही शमन हो जाएगा। यह थी इनकी चलाकियां। इसीलिए ये संतों के बीच आपस में 'एकसूत्रता' और 'निरंतरता' न तो कभी भी देख पाते हैं और न ही बता पाते हैं। संभवतः इसीलिए आचार्य रामचंद्र शुक्ल दादू दयाल को कबीर के विचारों से अलगाते हुए कहते हैं कि—“दादू की बानी में यद्यपि उक्तियों का वह चमत्कार नहीं है जो कबीर की बानी में मिलता है पर प्रेमभाव का निरूपण अर्ध

दादू कबीर के मार्ग के ही अनुयायी हैं पर उन्होंने अपना एक अलग पंथ चलाया जो, दादू पंथ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। दादूपंथी लोग इनका जन्म संवत् 1601 में गुजरात के अहमदाबाद नामक स्थान में मानते हैं इनकी जाति के सम्बन्ध में भी मतभेद हैं। कुछ लोग उन्हें गुजराती ब्राह्मण मानते हैं और कुछ लोग मोची या धुनिया। कबीर साहब की उत्पत्ति कथा से मिलती-जुलती दादू दयाल की उत्पत्ति कथा भी दादू पंथी लोग कहते हैं। उनके अनुसार बच्चे के रूप में साबरमती नदी में बहते हुए लाहीराम नामक एक नागर ब्राह्मण को मिले थे। चाहे जो हो, अधिकतर ये नीची जाति के ही माने जाते हैं।' ब्राह्मणों ने कबीर को विधवा ब्राह्मणी का पुत्र माना, रैदास को पूर्व जन्म का ब्राह्मण माना और अपने नीच कर्मों के कारण उसे चमार जाति में जाना पड़ा। दादू के बारे में भी एक कथा प्रचलित कर दी गई कि वे जाति से ब्राह्मण थे। क्या है इन सब के बीच अंतः संबंध? क्या कारण रहे होंगे कि इन तीनों का ही संबंध तथाकथित उच्च जाति के साथ जोड़कर बताया गया। हमें लगता है कि इन संतों ने उस समय की स्थापित चिंतनधारा, सत्ता और संस्कृति की जड़ों को बुरी तरह से हिलाकर रख दिया। नहीं बस चला तो इन्हें अपने में शामिल करने के लिए ब्राह्मण ही बना डाला। यह ऐसा है कि जब बौद्ध धर्म के विरोध के पश्चात् भी ब्राह्मण जाति इसका कुछ नहीं बिगाड़ पाई तो उन्होंने महात्मा बुद्ध को भी विष्णु का ही अवतार घोषित कर दिया। यानी कि विरोधी दर्शन, चिंतन, व्यक्ति की अस्मिता और भिन्नता को भी मिटाकर अपने में शामिल कर लो तो विरोधी मूल्यों का धीरे-धीरे अपने आप ही शमन हो जाएगा। यह थी इनकी चलाकियां। इसीलिए ये संतों के बीच आपस में 'एकसूत्रता' और 'निरंतरता' न तो कभी भी देख पाते हैं और न ही बता पाते हैं। संभवतः इसीलिए आचार्य रामचंद्र शुक्ल दादू दयाल को कबीर के विचारों से अलगाते हुए कहते हैं कि—“दादू की बानी में यद्यपि उक्तियों का वह चमत्कार नहीं है जो कबीर की बानी में मिलता है पर प्रेमभाव का निरूपण अर्ध

क सरस और गंभीर है। कबीर के समान खंडन और वाद-विवाद में इन्हें रूचि नहीं थी।²

ब्रजरंजन पांडेय आलोचना पत्रिका के अपने एक लेख में इसका महत्व बताते हुए कहते हैं कि- 'निर्गुण भक्ति की लगभग सभी परंपराएं निम्न जातियों शिल्पियों से संबद्ध थीं। कबीर जुलाहे थे। संत सेना नाई जाति में पैदा हुए थे। संत कमाल जुलाहे कबीर के पुत्र थे। धर्मदास बनिया जाति में उत्पन्न हुए थे। दादू दयाल बनिया जाति में जन्में थे। बूला साहब कुर्मी थे और संत गुलाब साहब हलवाई का काम करते थे। दीन दरवेश लोहार थे। बिहार वाले दरिया दास मुसलमान थे। कश्मीर की महिला संत लल्ला मेहतर जाति की थी। जबकि महाराष्ट्र के नामदेव छीपी नामक जाति में पैदा हुए थे। निर्गुण संतों की पूरी जमात इस प्रकार निम्न वर्गीय थी जिनका व्यापक प्रभाव शिल्पी जातियों और श्रमिक वर्ग पर पड़ा था।

इसलिए संत साहित्य और आंदोलन का दलित चेतना, संघर्ष, साहित्य, और आंदोलन में युगांतकारी और ऐतिहासिक महत्व है। यह दलित चेतना के विकास में एक ऐसा पड़ाव है जो दलित चेतना के साथ-साथ सभी मानवीय मूल्यों और समूहों को वाणी देता है। जैसे-जैसे समय गुजरेगा इसका महत्व और बढ़ेगा।⁵

I UnHkz %

1. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र 2002; हिंदी साहित्य का इतिहास, (नवीन संस्करण), पृ0 50
2. वहीं, पृ0 50
3. बड़त्या, सूरज, 2010; सत्ता संस्कृति और दलित सौंदर्य शास्त्र, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा0) लिमिटेड, नई दिल्ली, पृ0 102
4. आलोचना, प्रधान संपादक : नामवर सिंह, अप्रैल-जून 2005 पृ0 60
5. बड़त्या, सूरज 2010; वहीं, पृ0 105

I kekftd U; k; fd fn'kk ea bD
jkekLokh uk; dj i fj; kj dk vonku
MKD jhrk*

दलित चेतना के विकास में महाराष्ट्र में फुले के साथ-साथ तमिलनाडु में भी ब्राह्मणवादी सत्ता विरोधी चेतना और दलित चेतना का प्रदुर्भाव होते हुए दिखाई देता है एक तरफ ब्राह्मण वर्चस्व का विरोध है तो दूसरी तरफ ईश्वरवाद के नकार की चेतना है। सामाजिक परिवर्तन के सवाल को तमिलनाडु में ई.वी.आर. नायकर ने उठाया।¹

रामास्वामी नायकर ने तमिलनाडु में सामाजिक परिवर्तन में सक्रिय शक्तियों का प्रतिनिधित्व किया। उन्होंने सीधे-सीधे ईश्वर की सत्ता को चुनौती दी और कहा कि-“ईश्वर नहीं है, जिसने ईश्वर का आविष्कार किया वह दुष्ट है और जिसने ईश्वर की पूजा की वह असभ्य है।” पेरियार सही मायने में दलित जनता के बीच फुले द्वारा बोए गए बीजों को अंकुरित कर रहे थे। शास्त्रों के खंडन-मंडन का जितना तीखा प्रतिकार और चुनौती कबीर का था वही हमें पेरियार के आंदोलन में दिखाई देता है। उन्होंने सीधे-सीधे रामायण और महाभारत जैसी हिंदुओं की देवकथाओं को चुनौती देकर इन्हें कल्पित कहा। पेरियार ने रामायण का ‘सच्ची रामायण’ के रूप में भाष्य लिखा और रामायण का विश्लेषण किया। इसकी भूमिका में वे कहते हैं।-“राम और सीता में किसी प्रकार की कोई दैवी तथा स्वर्गीय शक्ति नहीं हैं। इस प्रकार स्वतंत्रता प्राप्त कर चुकने के बाद गौरांगो (आर्यों) की प्रतिमाएं तथा प्रसिद्धि उन स्थानों में ले जाई गई और आर्यों के देवताओं के नाम पर उनके नाम रख लिए गए। तमिलनाडु के जिन निवासियों की नसों में पवित्र द्रविड़ रूधिर खौलता है, उनका यह कर्तव्य है कि वे आर्यों की उस प्रतिष्ठा तथा सभ्यता को जो तमिलनाडु के विचारों और सम्मान को दूषित करती हैं मिटा देने की शपथ लें।”² पेरियार

*असि0प्रो0, गंगापुर कॅम्पस, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी, उ0प्र0

का यह आंदोलन आर्य बनाम द्रविड़ को लेकर चला था। उनका मानना था कि हिंदू देवता राम शोषणकारी मूल्यों को प्रतिनिधित्व देता हैं। रामायण में बंदर-भालू कहकर द्रविड़ समुदाय का अपमान किया गया है। इसीलिए इन्होंने तमिलनाडु में आर्य प्रतिनिधि के रूप में राम की मूर्तियों को तोड़ने से लेकर जूतों की मालाएं पहनाने जैसा जन-आंदोलन चलाया। पेरियार द्वारा लिखी विवेचना पुस्तक का असर केवल दक्षिण भारत में ही नहीं बल्कि उत्तर भारत के दलित आंदोलन और दलित चेतना के विकास पर भी हुआ। उत्तर भारत में उनकी पुस्तक का प्रतिबंधित करना पड़ा। वे सीधे जन की भाषा में जनभावनाओं को अभिव्यक्ति दे रहे थे।

दलित चिंतक कंवल भारती बताते हैं कि—“उनमें ब्राह्मणवाद के खिलाफ इतना जबर्दस्त विद्रोह था कि उन्होंने दशहरे के अवसर पर रावण-दहन के विरुद्ध राम-लक्ष्मण और भरत के पुतले जलवाए थे।”³

पेरियार का आन्दोलन दलित समुदाय के लिए सम्मान प्राप्ति का आंदोलन था। पेरियार के आंदोलन की तीन मुख्य बातें हैं जो बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। i fke 'सामाजिक सम्मान' हासिल करने की लड़ाई। इस सामाजिक सम्मान की लड़ाई को उन्होंने द्रविड़ अस्मिता के साथ जोड़कर उत्तर, दक्षिण तथा पश्चिमी भारत के दलित आंदोलन के बीच एकसूत्रता कायम करने की कोशिश की। इनके आंदोलन का नll jk महत्वपूर्ण पहलू था ईश्वर और शास्त्र का नकार। पेरियार ने सीधे-सीधे ईश्वर की सत्ता को नकार कर अपने समय में एक क्रांतिकारी कार्य किया था। पूरे भारत में उस समय किसी भी चिंतक में यह साहस नहीं था कि वे स्थापित मत, मान्यता और भावना के विरोध में ऐसी अवधारणा दें। यह ईश्वर का नकार भावनात्मक उद्वेलन नहीं था बल्कि उसके पीछे भरे-पूरे तर्क थे। जब वे हिन्दू-ब्राम्हणवादी शास्त्रों का विवेचन-विश्लेषण कर रहे थे तो उसी प्रक्रिया में उन्होंने ईश्वर और शास्त्रों दोनों को नकार दिया। उन्होंने 'सच्ची रामायण' की शुरुआत में ही कहा है कि—रामायण और बरेथम (महाभारत) आर्य ब्राम्हणों द्वारा चालाकी और चतुरतापूर्ण निर्मित प्राचीन कल्पित कथाएं हैं। वे द्रविड़ों (शूद्रों-अतिशूद्रों) की अपनी मनुष्यता को नष्ट करने के लिए समाप्त करने हेतु उन्हें फुसलाकर अपने जाल में फंसाए रखने के लिए रची गई हैं।”⁴

पेरियार के आंदोलन का पहला था शूद्र-अतिशूद्र, पिछड़े वर्ग और स्त्रियों के लिए शिक्षा की बात उठाना। उन्होंने भी फुले की तरह अज्ञानता को दलितों के उत्थान में बाधक एक महत्वपूर्ण कारक के रूप में चिन्हित किया है। वे शिक्षा के हिमायती थे कि उन्होंने कहा कि- शिक्षा के इस अभियान में यदि ब्राह्मण समुदाय बाधा उत्पन्न करता है तो उन्हें हमेशा के लिए ही शिक्षा से वंचित कर दिया जाए। उन्होंने यह भी कहा कि ब्राह्मण तथा उच्च समुदाय के लोगों के लिए किसी भी तकनीकी कॉलेज एवं शिक्षण संस्थान में प्रवेश कम से कम 15 वर्षों के लिए बंद कर देना चाहिए। वर्ण-व्यवस्था की समाप्ति के लिए पेरियार इस प्रकार की व्यवस्था को अनिवार्य मानते थे। दक्षिण भारत में पेरियार के इस जनआंदोलन का ही प्रभाव है कि भारत के किसी भी अन्य राज्यों की तुलना में दक्षिण भारत के दलित सजग एवं शिक्षित हैं। दलित अधिकारों एवं उत्पीड़न के खिलाफ आंदोलन की चेतना दक्षिण में पेरियार की ही देन है। उन्होंने 'ईश्वर की अवधारणा से मुक्त होने की अवस्था को ही 'जाति मुक्ति की अवधारणा' के साथ जोड़कर देखा था। चूंकि ईश्वर का कर्मफल एवं भाग्यवादी भाव किसी न किसी रूप में वर्ण-व्यवस्था को बनाए रखने में सहायक रहा है।⁵

संक्षेप में, यह कहा जाना चाहिए कि पेरियार ने दलित चेतना के विकास में महत्वपूर्ण अवदान दिया।

I UnHkZ %

1. बडल्या, सूरज, 2010; सत्ता संस्कृति और दलित सौंदर्यशास्त्र, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा0) लिमिटेड, नई दिल्ली, पृ0 111
2. रवापडे, डी0 के0; आधुनिक भारत की सामाजिक-सांस्कृतिक क्रांति के प्रणेता महात्मा ज्योतिबा फूले, पृ0 72
3. नायकर, ई0 रामास्वामी; सच्ची रामायण, भूमिका से
4. भारती, कंवल; दलित विमर्श की भूमिका, पृ0 55
5. बडल्या, सूरज, 2010; वही, पृ0 113

dkyl ekDI l vksj vEcMdj ds fpru ea o.kz vksj oxl dh vo/kkj .kk

MkD vk' kq'k's'k JhokLro*

प्रस्तुत शोध पत्र में हम यह विश्लेषण करेंगे की क्या 'वर्ण' और 'वर्ग' एक-दूसरे के परस्पर विरोधी-अवधारणाएं हैं या दोनों के बीच कोई अंतः संबंध भी है। क्या दोनों पदमूलक अवधारणाएं एक बेहतर समाज निर्माण सहयोगी की भूमिकाएं निभा सकती हैं? भारतीय समाजवैज्ञानिक भारत के भीतर 'वर्ण' और 'वर्ग' की श्रेणी को लेकर आपस में अपने-अपने मत रखते रहे हैं। मार्क्स का कथन है कि—“अभी तक का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास रहा है।” जबकि इसके इतर दलित समाजशास्त्री और चिंतक भारत के संदर्भ में इस कथन से सहमत होते हुए दिखाई नहीं देते। उनका मानना है कि भारत में वर्ग के साथ-साथ जो सबसे अधिक महत्वपूर्ण पदावली रही है वह है 'वर्ण'। चूंकि प्राचीन काल से ही भारतीय समाज में वैदिक संस्कृति को मानने वालों ने चार वर्णों में विभाजित किया तथा अपना वर्चस्व कायम रखने की साजिश की, नीतियाँ बनायी और इसी धर्म आधारित सैद्धांतिकी का निर्माण किया जिससे दलित और वंचित तबका उनका गुलाम बना रहे इसलिए यहां 'वर्ग-संघर्ष' की बजाय 'वर्ण-संघर्ष' दिखाई पड़ता है। भारत में सामाजिक परिवर्तन के लिए आज आधुनिक वैचारिकी के रूप में मार्क्सवाद और अम्बेडकरवाद वैज्ञानिक चिंतन के रूप में मान्य है। जहां अम्बेडकरवादियों को केवल सामाजिक प्रश्न ही एक मात्र दलित मुक्ति का साधन है, वही अधिकांश मार्क्सवादियों को आर्थिक सवाल ही 'एकमात्र' सर्वहारा (दलित) की मुक्ति का आधार है। मार्क्सवादियों के साथ एक समस्या यह भी रही की जाति के सवाल को उन्होंने कभी भी तरजीह ही नहीं दी। हालांकि अम्बेडकरवादियों के लिए जहां 'जाति'

*35 पटेल नगर, इन्दीरा नगर, लखनऊ, उ0प्र0

भारतीय समाज की सबसे बड़ी वास्तविकता और जमीनी सच्चाई है वही अधिकांश मार्क्सवादियों के लिए 'वर्ग' की सामाजिक श्रेणी ही सबसे बड़ी वास्तविकता है। दोनों ही वैचारिकीयों समाज की बेहतरी के सपने को ध्यान में रखते हुए कार्य कर रही है। इसलिए दोनों के कार्यभार और उद्देश्यों पर गैर-ईमानदारी का सवाल उठाना उचित नहीं है। दोनों वैचारिकीय की सामाजिक संरचना और वैचारिक हठवादिता (कुछ-कुछ भावुकता भी) के कारण वस्तुवादी नजरिया बन नहीं पाया। वर्गीय चरित्र से मुक्ति के साथ-साथ जाति चरित्र से मुक्ति का प्रयास वामपंथी संगठनों में शायद ही कभी चलाया गया हो। डॉ० अम्बेडकर कहते हैं कि—“धर्म, सामाजिक स्थिति और सम्पत्ति। ये तीनों प्रभुता के स्रोत हैं। आज यूरोपीय समाज से सम्पत्ति की प्रमुखता है, किन्तु भारत में धर्म और सामाजिक व्यवस्था का सुधार किए। बिना आप आर्थिक सुधार नहीं कर सकते। क्या भारत का सर्वहारा वर्ग ऐसी क्रांति लाने को इकट्ठा हो पायेंगे? उसके लिए उसे प्रेरणा तभी मिल सकती है जब उसमें संघर्ष तथा क्रांति के बाद वर्ण, जाति और धर्म का कोई भेद नहीं रहेगा। कम्युनिस्टों का केवल यह कहना काफी नहीं है कि—‘मैं जाति भेद को नहीं मानता।’²

इसका एक बड़ा उदाहरण मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के चिंतक नंबूदरीपाद की किताब—हिस्ट्री ऑफ द इंडियन फ्रीडम स्ट्रगल है जिसमें वे पूना पैक्ट के दौरान हुई गांधी-अम्बेडकर की बहसों पर अपने विचार रखते हैं—“बहरहाल जंगे आजादी के लिए यह एक बहुत बड़ा झटका था, क्योंकि इससे लोगो का ध्यान मुकम्मल आजादी के सवाल से हटकर ‘हरिजन-उत्थान’ की तरफ चला गया।”³

नंबूदरीपाद के लिए जो ‘बेहद मामूली’ काम है वह पंडित जवाहर लाल नेहरू के लिए ‘गैर-जरूरी’ प्रश्न के रूप में सामने आता है। आखिर वह अपने समय के दो प्रख्यात आधुनिक चिंतकों के लिए ‘मामूली’ और ‘गैर-जरूरी’ जैसे पद-विश्लेषण का दर्जा क्यों पाते हैं? जबकि डॉ. अम्बेडकर के लिए जाति एक महत्वपूर्ण प्रश्न बनकर आती है। वे कहते हैं कि—“किसी भी दिशा में मुड़े, जाति का राक्षस रास्ता रोके खड़ा मिलेगा। इस राक्षस को मारे बगैर न तो कोई राजनीतिक सुधार संभव है न आर्थिक।” डॉ. अम्बेडकर के लिए जाति मामूली के बरक्स ‘राक्षस रूपी’

विकराल प्राब्लम बन जाती है। यह समस्या को देखने की दो पद्धतियां हैं। इसमें अम्बेडकर की पद्धति का निर्माण 'अनुभूति की वास्तविकता' के कारण उन्हें वामपंथी विचारकों से अलगाता है। नंबूदरीपाद और नेहरू के लिए उच्च जाति का होना उन्हें जाति के प्रश्न से दूर ले जाता है क्यों?

वामपंथी और अम्बेडकरवादी के बीच विलगाव 'जाति' और 'वर्ग' की पदमूलक अवधारणा की व्याख्या से भी आता है। बाबा साहब डॉ. अंबेडकर और उन्हीं के अनुयायी चिंतकों का मुख्य तर्क है कि भारत में जो जाति है वही अंततः वर्ग है। इसलिए जाति का प्रश्न प्राथमिक सामाजिक सवाल है। जबकि मार्क्सवादी चिंतकों ने अपनी 'आधार' और 'अधिसंरचना' वाली समझ के सहारे जाति को समझने की कोशिश की। जाति को अधिसंरचना (Superstructure) रूपी 'पद' मानकर आर्थिक 'पद' वर्ग को आधार से संबद्ध मान लिया गया है। साथ ही समाज में बुनियादी परिवर्तन, उत्पादन संबंधों के परिवर्तनों और उत्पादक शक्तियों के विकसित, संगठित होने पर जाति-व्यवस्था को स्वतः समाप्त होने वाली परिकल्पना के रूप में स्वीकार कर लिया गया। आधारभूत समाज का ढांचा बदलने से अधिसंरचनागत जाति व्यवस्था समाप्त होगी। इसी समझदारी के फलस्वरूप वामपंथियों में जाति को लेकर कोई ठोस रणनीति बनती नहीं दिखती। अधिकांश वामपंथी समाज विश्लेषक जाति आधारित सामाजिक व्यवस्था में दलित समुदाय को अलग से एक 'अस्मिता' के रूप में स्वीकार करने की बजाय इसे वर्ग में ही अंतर्भूत मान लेते हैं। यही से उनकी समझ की सीमाएं दिखने लगती हैं या कभी-कभी पूर्वाग्रही विश्लेषण भी झलकता है।

'वर्ग' का सामाजिक स्तरीकरण जन्मना होकर भी ताउम्र उसी में बने रहना तय नहीं है बल्कि बहुत कुछ परिस्थितियों पर भी निर्भर करता है। इन्हीं बातों पर अगर गौर करें तो जाति का प्रश्न दलित समुदाय के लिए मुख्य सवाल बन जाता है। मुझे तो यह भी लगता है कि सभी तरक्कीपसंद-परिवर्तनकारी चिंतकों के लिए भी यह सवाल मुख्य सवाल के रूप में बनना चाहिए। अंबेडकरवादी चिंतकों की एक महत्वपूर्ण शिकायत मार्क्सवादी चिंतकों से यह भी है कि वामपंथियों के लिए सांप्रदायिक फासीवाद का सवाल तो हमेशा ही मुख्य एजेंडे पर रहता है लेकिन सामाजिक फासीवाद (सवर्ण दमन) इनके एजेंडे पर कभी भी नहीं आ पाता।

वामपंथी पार्टियां एवं विमर्शकार इस सामाजिक फासीवाद पर कतई गंभीर नहीं दिखाई देते जबकि सांप्रदायिक फासीवाद के खिलाफ न केवल वे खुलकर सामने आते हैं बल्कि उसके लिए एक बड़ा अभियान भी चलाते हुए प्रायः दिखाई दे जाते हैं। तथा जहां-तहां 'सेक्युलरवाद' का नारा 'जाति विमर्श' के प्रतिक्रिया स्वरूप ही दिखाई देता है। दलित चिंतक कांचा इलैय्या कहते हैं कि—“तथाकथित सेक्युलर ऊंची जातियों ने आज फिर एक बार मंडलीकरण की प्रक्रिया में बाधा डालने के इरादे से 'सेक्युलर बनाम सांप्रदायिकता' का एक कलाम चालू कर दिया है। इस काम को करने में तमाम तरह की विचारधाराओं के झंडे तले संगठित ऊंची जातियों ने बहुत सक्रिय भूमिका निभाई भी है। इनमें समाजवादी भी शामिल हैं, कम्युनिस्ट भी और कांग्रेस मार्का उदार-जनवादी भी। नेतृत्वकारी भूमिका तो अलबत्ता ब्राह्मणवादी कम्युनिस्टों ने ही अदा की है।”⁴

यहाँ हमारा स्पष्ट मानना है कि जब-जब सामाजिक बदलाव का सवाल सामाजिक विमर्श और आंदोलन की मुख्यधारा में आने की कोशिश करता है तो हमेशा से ही प्रगतिशील और प्रतिक्रियावादी ताकतें अपने अलग-अलग आंदोलनों के द्वारा इसे हाशिये पर धकेलने की कोशिश करते हुए दिखाई देती हैं। अगर इतिहास के भीतर झांकने की कोशिश करें तो डॉ. बी.आर. अंबेडकर ने जब सामाजिक प्रश्न के रूप में दलित मुक्ति के सवाल को उठाया तब भारत की स्वाधीनता के सवाल को बड़ा सवाल मानते हुए उसे 'दलित मुक्ति' के बरक्स खड़ा कर दिया गया। प्रमुख मार्क्सवादी चिंतक एवं नेता नंबूदरीपाद द्वारा 'दलित मुक्ति' के सवाल को 'बेहद मामूली' और जवाहरलाल नेहरू द्वारा 'गैर-जरूरी' कहकर उसे मुख्यधारा से विलगाने की पुरजोर कोशिश की। लोकमान्य तिलक और वीर सावरकर तो सीधे-सीधे इसके विरोध में उतर आए थे।

उपर्युक्त विवेचन से हम कतई यह कहना नहीं चाहते कि सांप्रदायिक फासीवाद कोई बड़ी समस्या नहीं है। किंतु जैसे सांप्रदायिक फासीवाद, फासीवादी विचारधारा का एक रूप है ठीक उसी प्रकार सामाजिक फासीवाद भी एक रूप है। इसलिए हमें दोनों के खिलाफ मोर्चा खोलना चाहिए। इसमें हमें यह देखना होगा कि सांप्रदायिक फासीवाद और सामाजिक फासीवाद आता कहां से है। जब हम यह जान लेंगे कि दोनों एक ही वैचारिकी की

पैदाइश हैं या इसे ऐसे कहें कि दोनों की जड़े एक ही हैं तो संघर्ष की सैद्धांतिक कार्यनीति और रणनीति बनाने में सुविधा होगी। हो सकता है कि तब उस वैचारिकी के खिलाफ संघर्ष भी सामूहिक ही बने। हमें यह देखना और पहचानना होगा कि हिंदूवादी वैचारिकी का कट्टरवाद जिस तरह सांप्रदायिक फासीवाद के लिए जिम्मेदार है ठीक उसी प्रकार हिंदूवादी वैचारिकी द्वारा संचालित ब्राह्मणवादी सामाजिक फासीवाद के लिए जिम्मेदार है। ऊपर से दिखने में ये भले ही अलग-अलग प्रकार से दिखें लेकिन इसकी जड़े कहीं न कहीं उसी हिंदूवादी-ब्राह्मणवादी वैचारिकी के भीतर अंतर्भूत हैं। अल्पसंख्यक शोषण के खिलाफ एकजुटता अमूमन अधिकांश प्रगतिशील तबकों, मानवाधिकार संगठनों और वामपंथियों के बीच हो ही जाती है। लेकिन 'जाति' के प्रश्न पर इस प्रकार की एकजुटता का अभाव दिखाई देता है। हमेशा ही 'जाति' के प्रश्न पर परिवर्तनकारी सामाजिक कार्यकर्ता और चिंतक बट जाते हैं। जबकि 'जाति' के सवाल पर सामूहिक संघर्ष ही भारत से इस समस्या का कोई स्थायी समाधान निकाल सकता है।

हम कहना यही चाहते हैं कि 'जाति' और 'वर्ग' की अवधारणाएं जिस प्रकार आपस में अन्तर्सम्बन्धित हैं उसमें केवल एक के खिलाफ संघर्ष भारत के संदर्भ में कोई दुर्गामी परिणाम नहीं लाने वाला। इसके लिए सर्वप्रथम सत्ता-संस्कृति द्वारा प्रदत्त मूल्यों से तथा कथित उच्च जाति के प्रगतिशील तबकों को जाति के संदर्भ में अपनी सोच को बदलना पड़ेगा। बिना बदले अंबेडकरवादियों और मार्क्सवादियों के बीच गहरी और गंभीर एकता नहीं बन पायेगी। इसे हमें इतिहास से सीख लेना चाहिए।⁶

LKUnHKZ %

1. बड़त्या, सूरज, 2010; सत्ता, संस्कृति और दलित सौंदर्यशास्त्र, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा0) लिमिटेड, नई दिल्ली, पृ0 61-62
2. चौहान, चंचल; समकालीन जनमत, सितंबर (अंक) 2004 पृ0 81
3. निगम, आदित्य; आधुनिकता के आइने में दलित, अभय कुमार दुबे (सम्पा0)
4. इलैय्या कांचा; टुवडर्स ए दलिताइजेशन ऑफ द नेशन पृ0 285
5. बड़त्या, सूरज, 2010; वहीं, पृ0 65-66

ch- vkj- vEcMdj dk nfyf eDr vkanksyu ea vonku MKD eglnz dpekj mej*

I kjk k %

प्रस्तुत शोध पत्र द्वितीयक स्रोत एवं अन्वेषणात्मक शोध प्रारूप पर आधारित है। इस अध्ययन में अम्बेडकर के गहन, चिन्तन, मनन के विविध परतों को अन्वेषित किया गया है। जिसमें सामाजिक न्याय के विविध पहलू भी रेखांकित होते हैं जो सामाजिक परिवर्तन का सूचक हैं।

डॉ. बी. आर. अम्बेडकर को दलित मुक्ति आंदोलन की सैद्धांतिकी का निर्माता माना जाता है। फुले ने गुलामगिरी लिखकर 'दलित मुक्ति का घोषणापत्र' उपलब्ध कराया वहीं डॉ. अम्बेडकर ने फुले और कबीर को अपना गुरु माना और उन्हें सम्मान दिया। बुद्ध के बाद दूसरे ऐसे ज्ञानी, दार्शनिक और सामाजिक द्रष्टा थे जिन्होंने आधारभूत रूप से भारतीय चिंतन प्रणाली, दर्शन—धर्म और समाज को प्रभावित किया। उनके अध्ययन से कोई भी क्षेत्र अछूता नहीं रह गया था। इसीलिए एम0आर0 रस्तोगी ने अपनी पुस्तक दस्तावेज में लिखा है—“डॉ. अम्बेडकर अब बैरिस्टर थे, लंदन और अमरीकी विश्वविद्यालय से उन्हें डाक्टरेट मिली थी। वह बोन विश्वविद्यालय के छात्र थे। भारत की धरती से उस समय ऐसा कोई भी व्यक्ति सृष्टि के आरंभ से लेकर अब तक नहीं पढ़ा था, जितना डॉ. अम्बेडकर पढ़े थे।”

डॉ. अम्बेडकर ने जाति—विनाश, शूद्र कौन, अस्पृश्य, बुद्ध और उनका धम्म इत्यादि महत्वपूर्ण कृतियां लिखीं। डॉ. अम्बेडकर ने कहा कि—

(किसी भी दिशा में मुझे जाति का राक्षस रास्ता रोके खड़ा मिलेगा। इस राक्षस को मारे बगैर न तो कोई राजनीतिक सुधार संभव है न आर्थिक।)

डॉ. अम्बेडकर के चिंतन का मुख्य आधार समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व का भाव था। उनका कहना था कि उन्होंने यह तीनों मूल्य फ्रांस की क्रांति के दार्शनिक चिंतक रूसो से नहीं बल्कि गौतम बुद्ध के दर्शन से

*असि0प्र0, दूधनाथ सिंह स्मारक महाविद्यालय, मडियाहूँ, जौनपुर, उ0प्र0

लिए हैं। वह बुद्ध को अपना प्रथम गुरु, कबीर को दूसरा और फुले को तीसरा गुरु मानते थे। यह क्रम, कालक्रम के अनुसार ही उन्होंने निर्धारित किया था। सामाजिक परिवर्तन में दलित मुक्ति का सवाल ही उनके लिए प्राथमिक था जिसके लिए उन्होंने जीवन-पर्यंत संघर्ष किया।

दलित आलोचक डॉ. धर्मवीर कहते हैं कि—“भारत के दलित समाज ने डॉ. अंबेडकर के रूप में विश्व को बीसवीं शताब्दी का अपना महान पुरुष दिया है। इस शताब्दी में यदि कोई धर्मग्रंथ रचा गया है, तो बाबा साहब द्वारा ही रचा गया है। इसका नाम ‘द बुद्ध एंड हिज धम्म’ है। इस ग्रंथ की लेखनशैली उन्होंने स्वयं खोजी थी।³

डॉ. धर्मवीर ने स्पष्ट कहा है कि— “यह बाबा साहब ने अच्छा किया कि दलितों की समस्या का मूल मर्म पकड़ लिया था। उन्होंने दलितों की समस्या को ठीक ही धार्मिक माना था।⁴ जबकि ऐसा एकदम नहीं था। डॉ० अंबेडकर ने दलितों की समस्या को पूरी तरह से सामाजिक ही माना इसीलिए वे सामाजिक सम्मान और गरिमा के सवाल को हमेशा ही उठाते थे। उन्होंने भारत के आंदोलन और चिंतन को ही नहीं बल्कि दुनिया के चिंतन को भी प्रभावित किया। जब मार्क्स ने यह बताया कि वर्ग का विभाजन श्रम के विभाजन से जुड़ा है तो डॉ. अंबेडकर ने भारत के संदर्भ में मार्क्स की इस बात को आगे बढ़ाते हुए कहा—“जाति-व्यवस्था श्रम का नहीं बल्कि श्रमिकों का विभाजन है,⁵ यह मार्क्सवाद की एक नई व्याख्या थी। संक्षेप में, दलित चेतना, आंदोलन और मुक्ति के सवालों को डॉ. अंबेडकर ने नई रोशनी दी। यहां तक कहा जाना चाहिए कि अश्वेत के लिए जैसे किंग लूथर का योगदान है वैसे ही दलितों के लिए डॉ. अंबेडकर का।

I UnHkz %

1. रामास्वामी नायकर, पेरिमर ई. व्ही; सच्ची रामायण, पृ० 7
2. विद्रोही, एम. आर, दलित दस्तावेज
3. अंबेडकर, बी. आर, दलित दस्तावेज
4. अंबेडकर, बी. आर., एनहिलेशन ऑफ कॉस्ट, पृ० 47
5. राजकिशोर (सम्पा.); हरिजन से दलित, डॉ. धर्मवीर का लेख, पृ० 146
6. वही, पृ० 147

भारत के निर्माण में नवजागरण की भूमिका

वर्तमान संदर्भ*

आधुनिक भारत के निर्माण में भारत में चले बहुत से सांस्कृतिक, शैक्षिक, धार्मिक एवं स्वतंत्रता आंदोलन की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। एक ओर जहाँ स्वतंत्रता आंदोलन की पृष्ठभूमि में नई चेतना के बीच अंकुरित हो रहे थे वहीं विदेशी सत्ता से मुक्ति के लिए भी एक आधारभूत पृष्ठभूमि तैयार हो रही थी। इस नव-निर्मित चेतना को इतिहासकारों एवं चिंतकों ने नवजागरण या पुर्नजागरण के रूप में रेखांकित करने का प्रयास किया है। यह नवजागरण मूलतः सुधारवादी और एक सीमा तक परिवर्तन के मूल्यों से प्रेरित था। भारतीय नवजागरण को लेकर भी दो प्रकार की धारारयें हमें इतिहास में समानांतर चलती हुई दिखायी देती हैं। नवजागरण की एक धारा का सूत्रपात राजा राममोहन राय से होता है और दूसरी का महात्मा ज्योतिबा फूले से। एक की शुरुआत बंगाल से होती है तो दूसरी धारा की महाराष्ट्र से। बंगाल वाली धारा आधुनिक शिक्षा, धार्मिक सुधार और सामाजिक कुरीतियों को लेकर चलती है, तो महाराष्ट्र धारा इतिहास के अनुत्तरित प्रश्न दलित और स्त्री के सवाल और ब्राह्मणवादी शोषणकारी संस्थानों के षड्यंत्रों को उजागर करती है। भूमिका दोनों की महत्वपूर्ण है लेकिन इनमें समस्या यह है कि भारतीय इतिहासकारों ने राजा राममोहन राय और उनके ब्रह्म समाज और उसी के साथ-साथ अन्य सुधारवादी धारा को तो इतिहास में जगह दी लेकिन महात्मा ज्योतिबा-सावित्री बाई फूले को इतिहास निकाला दे दिया। इतिहासकारों ने राजा राममोहन राय को भारतीय नवजागरण का अग्रदूत मान लिया लेकिन ज्योतिबा फूले को शिरे से खारिज कर दिया या जिक्र किया भी तो मात्र नामोल्लेख तक।'

इस संबंध में इतिहासकार लाल बहादुर वर्मा कहते हैं—“स्वतंत्र भारत में दो सबसे प्रचलित पाठ्य-पुस्तकों को ले। बहुत दिनों तक आर. सी. मजूमदार, के.के. दत्ता और एच.सी. राय चौधरी की किताब 'ऐन एडवांस हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' कई पीढ़ियों तक मानक टेक्स बुक बनी रही। उसमें

*सहायक प्राध्यापक, समाजशास्त्र विभाग, शासकीय महाविद्यालय, रेहटी, रायसेन, म०प्र०

राजा राममोहन राय पर तो विस्तार से चर्चा है, कई बार, कई संदर्भों में, पर फूले का जिक्र तक नहीं है।²

यह इतिहास में बेदखल किये जाने का सवाल भी बनता है कि सचेतन रूप से यह वर्ण संस्कार के चलते फूले इतिहास से बेदखल किये गए। समाज से तो दलित हजारों साल से ही बेदखल कर दिए गए थे। सवाल आधुनिक समय में आधुनिक चेतना और संदर्भों से जुड़कर और गहरा हो जाता है। जबकि राममोहन राय सुधारवादी विद्वान थे और फूले परिवर्तनकारी चिन्तक। राममोहन ने भारतीय समाज के आधारभूत ढांचे में परिवर्तन के लिए किसी पद्धति को नहीं चलाया। उनके द्वारा बनाये गये 'ब्रह्मसमाज' की आंतरिक संरचना ही सुधारवादी मूल्यों से संचालित थी। जाति विरोधी आंदोलन या स्त्री-मुक्ति के सवालों पर ब्रह्मसमाज खामोश था। स्त्री के लिये उन्होंने विधवा पुनर्विवाह और बाल-विवाह विरोध की बात की। हिन्दू धर्म के सुधार के वे अभिलाषी बने रहे। जबकि दूसरी तरफ फूले समाज की आंतरिक ढांचे में परिवर्तन की बात कर रहे थे। उन्होंने शूद्रों और अतिशूद्रों की गुलामी का विरोध किया। फूले अपनी पत्नी सावित्री बाई फूले को स्त्री शिक्षा के लिए प्रेरित किया और ऐसे समय में जब स्त्री शिक्षा की बात करना ही अपने आप में अपराध था उन्होंने स्त्री शिक्षा के लिए पहला स्कूल खोलवाने में सावित्री बाई का सहयोग किया। उन्होंने विधवाओं, अवैध संतानों, किसानों, देवदासियों इत्यादि के लिए सकारात्मक कार्य किये।

इतिहासकार विपिनचन्द्र ने अपनी पुस्तक 'मार्डन इण्डिया' में राजा राममोहन राय को 'आधुनिक भारत का पहला महान नेता' माना जिसने 'जीवन भर अपने लोगों और देश के सामाजिक, धार्मिक, बौद्धिक तथा राजनीतिक पुनर्जागरण के लिए भरसक प्रयास किया। जबकि विपिनचन्द्र की वैचारिक पृष्ठभूमि हिन्दू इतिहासकार की नहीं रही बल्कि उन्हें प्रगतिशील इतिहासकार माना जाता है। इसी तरह का विचार प्रमुख इतिहासकार सुमित सरकार का भी है।

संभवतः यह इन इतिहासकारों की सीमायें हैं जिन्हें जाति मुक्त नहीं कर पाती। हालांकि आठवें दशक के बाद इतिहास लेखक की एक नई धारा 'सब अल्टर्न स्टडीज' ने इतिहास के कुल लेखक का कार्यभार अपने कंधों पर वहन किया। अपनी सीमाओं के बावजूद इसमें इतिहास के

बहुत से अनुत्तरित प्रश्नों और हासियों की अस्मिताओं को केन्द्र में लाने का भरसक प्रयास किया।

हमारी समझ में यदि राममोहन राय आधुनिक भारत के जनक है तो महात्मा फूले नये भारतीय समाज के निर्माता हैं। वे किसी भी मायने में कमतर नहीं है। इसमें आगे बढ़कर मैं तो यहां तक कहना चाहूंगा कि भारतीय नवजागरण की शुरुआत बंगाल से नहीं बल्कि महाराष्ट्र से मनानी चाहिए। फूले ने गुलामगिरि के माध्यम से दलित मुक्ति का घोषणा तैयार किया था और उसे उन्होंने अमेरिका अश्वेत जनता को समर्पित किया था, क्योंकि अमेरिका समाज गुलामी प्रथा जैसी अमानवीय प्रथा से मुक्त हुआ था। दुनिया की इतिहास-समाज से पूरी तरह वाकिफ थे फूले।³ फूले के बारे में बताते हुए दलित चिंतक कंवल भारती का कहना है कि—“आधुनिक भारत में नवजागरण की लहर बंगाल से चली, ऐसा माना जाता है। क्योंकि राजा राममोहन राय, रामकृष्ण और विवेकानन्द को पैदा करने का श्रेय बंगाल को जाता है। परन्तु वास्तव में जिसे हम नवजागरण कह सकते हैं। उसकी लहर महाराष्ट्र से पैदा हुई थी और यह लहर थी दलित मुक्ति के आंदोलन की, जिसने ना सिर्फ भारत का बल्कि पूरे विश्व का ध्यान आकृष्ट किया था। इस लहर को भरने वाले थे महात्मा ज्योतिबा फूले, जिनका जन्म 1827 में और निधन 1890 में हुआ था।⁴

I UnHKZ %

1. बड़त्या, सूरज, 2010; सत्ता संस्कृति और दलित सौंदर्य शास्त्र, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा0) लिमिटेड, नई दिल्ली, पृ0 105
2. वर्मा, लालबहादुर, 2000; इतिहास के बारे में, पृ0 84
3. बड़त्या, सूरज, 2010; वहीं पृ0 107
4. भारती, कंवल, 2002; विमर्श की भूमिका, पृ0 51-52

egkRek T; ksrck Qmys dk I kekft d

U; k; ea vonku

MkK jkedoy fl g ; kno*

महात्मा फूले का जन्म 1827 में महाराष्ट्र (पूना) की शूद्र कही जाने वाली जाति में हुआ था। इनके पिता का नाम गोविंदाराव तथा माता का नाम चिमनाबाई था। इनके बचपन का नाम जोती था। जोती के जन्म के एक वर्ष बाद ही माता चिमनाबाई का देहांत हो गया। जिस समय जोती का जन्म हुआ उस समय शुद्रों को पढ़ने की कोई आजादी नहीं थी। यह संयोग ही था कि 1824 में पुना में पहले मराठी स्कूल की स्थापना ईसाई मिशनरियों द्वारा हुई। 7 वर्ष की उम्र में ज्योतिराव स्कूल में जाने लगे। यह कोई साधारण घटना नहीं थी। बचपन में उनके मुस्लिम मित्र थे। बचपन में ही उन्हें हिन्दू धर्म के पाखंड और जाति-प्रथा का दंश झेलना पड़ा था इसका जिक्र उन्होंने अपने ग्रंथ किसानों का आसूड में किया है। वह कहते हैं कि—“इन मुस्लिम मित्रों के संगत में, मुझे स्वार्थी हिन्दू धर्म और जातिभेद का सही ज्ञान हुआ। इस बात का मैं उन्हें धन्यावद देता हूँ।”

उनके समकालीन विचारकों में दयानंद (1824–1883), तिलक (1856–1920), विवेकानन्द (1863–1902) और रानाडे (1842–1901) थे। जब फूले का निधन हुआ रानाडे 48 वर्ष के थे, विवेकानंद 37 वर्ष के थे और दयानंद की मृत्यु फूले से सिर्फ 7 वर्ष पहले हुई थी। यह विवरण मैं इसलिए दे रहा हूँ ताकि आप स्थितियों को तुलानात्मक रूप से अच्छी तरह से समझ सकें।”

समाज-सुधारकों और फूले के बीच स्पष्ट अंतर था कि कोई भी अपनी दृष्टि में असमानता की तर्कपूर्ण विवेचना नहीं कर पाया। यह असमानता धार्मिक, सामाजिक, वर्गीय, नस्लीय, जातिगत और लैंगिक रूप से समाज में मौजूद थी। इसका क्या कारण है कि उनके समकालीन विचारक

*प्रवक्ता, बी0एड0 विभाग, एम0एन0बी0 मेमोरियल महिला महाविद्यालय, नसीरपुर मठ, कोटवाँ, नारायनपुर, बलिया, उ0प्र0

अमरीकी दास-प्रथा, नस्लीय भेद को नहीं देख पाये। फूले 'गुलामगिरी में कहते हैं "हर मनुष्य को आजाद होना चाहिए, यह उनकी बुनियादी जरूरत है जब व्यक्ति आजाद होता है तब उसे अपने मन के भावों और विचारों को स्पष्ट रूप से दूसरों के सामने प्रकट करने का मौका मिलता है। आजाद होने से मनुष्य अपने सभी मानवीय अधिकार प्राप्त कर लेता है और असीम आनंद का अनुभव करता है।"³ फूले मनुष्य की आजादी के प्रबल पक्षधर थे। आजादी उनके लिए बहुत बड़ा मूल्य थी। इंसान बिना मुक्ति के अपना सर्वांगीण विकास नहीं कर सकता। इसलिए वे गुलामगिरी की प्रस्तावना में अमरीक के काले गुलामों का मार्मिक चित्रण करते हैं। दासता को वे समाज और इंसान के लिए अमानवीय कारण मानते रहे हैं। गुलामगिरी में वे गुलामों पर कहते हैं कि— "अमरीकी लोगों ने आज सैकड़ों सालों से चली आ रही इस गुलामी के अमानवीय परम्परा को समाप्त करके गरीब अबोध लोगों को उन चंद लोगों के जुल्म से मुक्त करके उन्हें पूरी तरह से सुख की जिन्दगी बख्शी हैं। वे आगे कहते हैं—'इन बातों को जानकर शूद्रों-अतिशूद्रों को अन्य लोगों की तुलना में बहुत ही ज्यादा खुशी होगी, क्योंकि गुलामी की अवस्था में गुलाम लोगों को, गुलाम जातियों को कितनी यातनाएं बर्दाश्त करनी पड़ती हैं, इसे स्वयं अनुभव किये बिना अंदाजा करना नामुमकिन है। जो सहता है, वही जानता है।"⁴

लालबहादुर वर्मा बताते हैं कि—"सबसे बड़ी बात यह है कि उन्होंने प्राचीन इतिहास के प्रति जनमानस में संदेह उत्पन्न किया। उनका सत्यशोधक समाज वास्तव में उस जिज्ञासा का जन्मदाता था जो समाज के लिए अनिवार्य है। उनके विचार से प्राणियों में मनुष्य श्रेष्ठ है और मनुष्यों में नारी श्रेष्ठ है। यह समझने के बाद की शिक्षाहीन होना शूद्रों के हर दुःख का कारण है। उन्होंने उन्हें शिक्षित करने का बहुविध प्रयास किया। उन्होंने लिखा—

विद्या बिना मति गई। मति बिना नीति गई।

नीति बिना गति गई। गति बिना वित्त गया।

वित्त बिना शूद्र गए। इतने अनर्थ एक अविद्या ने किए।

...उन्होंने नवजागरण के मूल प्रश्नों क्यों, क्या, कैसे को भारतीय समाज के उत्पीड़ित लोगों की समस्याओं के संदर्भ में उठाया। उनके लिए ये दार्शनिक प्रश्न नहीं थे। इसलिए उन्होंने कुछ ठोस प्रश्न समाज के सामने रखें—

1. मनुष्य—मनुष्य में भेद क्यों?
2. स्त्री और पुरुषों में भेद क्यों?
3. ईश्वर और भक्ति के बीच दलाल क्यों?
4. धर्म—भेद और जातिभेद क्यों?

उन्हें मराठी का टाम पेन, यानि इंग्लैण्ड, फ्रांस और अमरीका में क्रांतिकारी विचारों का प्रवक्ता कहा जाता है। इस प्रकार भारतीय नवजागरण और आधुनिक भारतीय समाज के निर्माण में महात्मा ज्योतिबा फुले के योगदान क्रांतिकारी है।

I UnHk%

1. रवापर्डे. डी0 के0, 1990; आधुनिक भारत की सामाजिक—सांस्कृतिक क्रांति के प्रणेता महात्मा ज्योतिबा फुले, पृ0 31
2. भारती. कंवल, 2000; दलित विमर्श की भूमिका, पृ0 51—52
3. मेश्राम. एल0जी0 (अनुवाद एवं संपादन), 1996; महात्मा ज्योतिबा फुले रचनावली. 'विमल कीर्ति' संशोधित संस्करण, पृ0 138
4. भारती. कंवल, 2000; वही।
5. वर्मा. लाल बहादुर, 2000; इतिहास के बारे में, पृ0 84

I kekftd U; k; ykfg; k dh nf"V ea Mk0 I Unhi dckj feJ*

न्याय, उन्नतिशील सभ्यता का आवश्यक अंग होता है। सामाजिक न्याय, न्याय का एक महत्वपूर्ण आयाम है। व्यापक अर्थ में, 'I kekftd U; k; * शब्दावली से 'सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक' तीनों तरह के न्याय का बोध हो जाता है। सीमित अर्थ में, सामाजिक न्याय का तात्पर्य यह है कि सामाजिक जीवन में सब मनुष्यों की गरिमा (Dignity) स्वीकार की जाए, स्त्री-पुरुष, गोरे-काले, या जाति, धर्म, क्षेत्र इत्यादि के आधार पर किसी व्यक्ति को बड़ा-छोटा या ऊँचा-नीचा न माना जाए, शिक्षा और उन्नति के अवसर सबको समान रूप से प्राप्त हों और सब लोग मनुष्य-मनुष्य के नाते मिल-जुलकर साहित्य, कला, संस्कृति और तकनीकी संसाधनों का उपभोग और उपयोग कर सकें।

डॉ० राम मनोहर लोहिया भारत में सामाजिक न्याय को स्थापित करने के लिए सामाजिक परिवर्तन का आह्वान करके इसका महानायक बन गये थे। इन्होंने साम्प्रदायिकता, जातिप्रथा, स्त्री-पुरुष असमानता, अस्पृश्यता, रंगभेद आदि जैसे सामाजिक कुरीतियों को सामाजिक अन्याय का कारण माना था। इन कुरीतियों से समाज को मुक्त करने हेतु उन्होंने "सामाजिक समता" जैसे महत्वपूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। वे मानते थे कि प्राचीन काल से चली आ रही 'दासता की प्रवृत्ति' ही इन विषयमताओं की जननी है। वे सामाजिक न्याय के लिये सामाजिक तथा आर्थिक समता को अनिवार्य मानते थे। आय-विषमता, मूल्य-वृद्धि, वर्ग व वर्ण व्यवस्था, भ्रष्टाचार, जमींदारी व्यवस्था, विलासिता व आर्थिक केन्द्रीयकरण इत्यादि को आर्थिक व सामाजिक विषमता के कारक मानते थे।

डॉ० लोहिया आय की सीमा बाँधने, मूल्यों को निश्चित करने और अपव्यय पर प्रतिबन्ध लगाने के पक्षधर थे।¹ तिलक और महात्मा गांधी की

*असि०प्र०, हिन्दी विभाग, मड़ियाँ, पी०जी० कालेज, मड़ियाँ, जौनपुर, उ०प्र०

भाँति वे लोकभाषा व मातृभाषा को गरीबों, किसानों, शोषितों की भाषा बनाना चाहते थे। जिससे उनमें स्वावलम्बन, राजनीतिक जागृति और स्वतन्त्रता की भावना पैदा हो सकें। वे कहा करते थे कि "अन्याय के सामने झुकना, अन्याय को बढ़ावा देना है" अन्याय से लड़ना मानव का प्रथम कर्तव्य है।² उन्होंने भरपेट अन्न और मन की आजादी के समाधान का प्रयास किया। जब तक समाज वर्गों व वर्णों के मध्य संघर्षरत रहेगा, तब तक सामाजिक न्याय एक कपोल कल्पना मात्र बनी रहेगी। इसीलिये वे वर्णविहीन तथा वर्गविहीन सामाजिक व्यवस्था को साकार करना चाहते थे।³ डॉ० लोहिया सामाजिक न्याय के महान प्रणेता थे। स्वतन्त्रता के 66 वर्षों के बाद आज अछूतों, दलितों, पिछड़ी जातियों एवं औरतों को जो भी अधिकार दिये जाते हैं उनके प्रेरणा स्रोत डॉ० लोहिया ही हैं। छुआछुत और असमानता का प्रबल विरोध करते हुए वे सभी मनुष्यों को एक समान मानते थे। उनके अनुसार सभी मनुष्यों की प्रजनन-क्रिया समान है, अतः सभी मानव जाति एक हैं। मनुष्यों की सामाजिक आवश्यकता एक है, इसीलिए चमड़ी के रंग, सम्प्रदाय, वर्ण या जाति के आधार पर किसी को ऊँच तथा किसी को नीच समझना गलत है।

भारत में जातिप्रथा जनतंत्र और समाजवाद दोनों का सबसे बड़ा शत्रु है। इसकी समाप्ति के लिये डॉ० राम मनोहर लोहिया ने "जाति तोड़ों आन्दोलन" चलाया तथा समाजवादी आन्दोलन की सफलता के लिये पिछड़ों, दलितों तथा औरतों आदि के लिये आरक्षण की मांग की।⁴ इसीलिए लोहिया वैचारिक स्तर पर आज भी जिन्दा हैं और हमेशा जिन्दा रहेंगे।

डॉ० राम मनोहर लोहिया ने 'सप्त क्रान्ति' जैसे महत्वपूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था जिसमें सामाजिक न्याय की स्पष्ट झलक दिखायी देती हैं। ये सात क्रान्तियाँ—

1. नर-नारी समता के लिये,
2. चमड़ी के रंग के आधार पर राजनीतिक, आर्थिक, और आध्यात्मिक विषमता के विरुद्ध,
3. जाति-प्रथा की विषमताओं के खिलाफ,
4. विदेशी दासता के विरुद्ध,
5. निजी पूंजी की विषमताओं के खिलाफ,

6. व्यक्तिगत जीवन में अन्यायी हस्तक्षेप के खिलाफ,
7. अस्त्रशस्त्र के खिलाफ व सत्याग्रह के लिए।⁵

डॉ० राममनोहर लोहिया के अनुसार इन 'सात क्रान्तियों' से ही सामाजिक अन्याय तथा शोषण को दूर किया जा सकता है। इसके अलावा भोजन तथा लोक वेश-भूषा के समर्थन में डॉ० लोहिया एक आन्दोलन चलाना चाहते थे।⁶ उनके अनुसार समाज में ऐसी भाषा बोली जाये, जिससे राजा व रंक का भेद न रहे। ऐसे भवन देश में बने, जिससे अमीर व गरीब के भवन में ज्यादा अन्तर न हो। जहां तक वेश-भूषा की बात है वह तो ऐसी होनी चाहिए जिससे प्रशासक और प्रशासित एक दूसरे में अपनी पहचान कर सकें। दोनों के मध्य अजनबीपन न पैदा हो और शासित को लगे कि वह किसी विदेशी या अजनबी से नहीं बल्कि अपने ही समान एक व्यक्ति से बात कर रहा है।

डॉ० लोहिया का मूल उद्देश्य एक समतामूलक प्रधान समाज स्थापित करना था। इस समतामूलक समाज की अवधारणा के पीछे उनकी मूल भावना, व्यक्ति के आचार व विचार, दोनों को ऐसा मानवीय स्तर देना था जहां वह अपने समस्त उदान्त चेतनाओं के साथ जीवन यापन करते हुए अपने मनुष्यता और मानवीय गरिमाओं के साथ जी सकें।⁷ वे सम्पूर्ण मानव जाति को अखण्ड और अविभाज्य इकाई के रूप में स्वीकार करते थे। रंग-भेद, जाति-भेद, तथा संस्कृति-भेद, एक ही सत्य की विभिन्न छवियाँ मानते थे तथा आशा करते थे कि मनुष्य इस विविधता को इसकी समग्रता में स्वीकार करें।⁸ फिर भी उनकी मनुष्यता थी कि वर्ण और वर्ग सभी समाजों में पाये जाते हैं। अस्थिर वर्ण को वर्ग तथा स्थायी वर्ग को वर्ण कहते हैं। प्रत्येक सभ्यता या समाज में वर्ग से वर्ण और वर्ण से वर्ग का बदलाव हुआ है। यही परिवर्तन लगभग सभी आन्तरिक घटनाओं की जड़ में होता है। डॉ० लोहिया की दृष्टि में न्याय तथा समानता की मार्गें शून्य से उत्पन्न ने होकर, वर्ग व वर्ण-संघर्ष का परिणाम है।

डॉ० लोहिया, हमेशा अन्याय का विरोध करते थे। महात्मा गांधी से उन्होंने प्रेरणा लिया था कि 'अन्याय के खिलाफ संघर्ष करो।' यह काम उन्होंने अपनी जीवन के आखिरी क्षणों तक किया। डॉ० लोहिया एक ऐसे विश्व की रचना करना चाहते थे जहां अन्याय तथा शोषण की कोई

जगह न हो, उन्मुक्त वातावरण हो, आदमी आजाद हो, विकसित दुनिया की बात समता के आधार पर हो। छोटा से छोटा आदमी सीना तान कर व सर उठाकर चल सके तथा यह महशूश करे कि यह दुनिया उसकी हैं।

राम मनोहर लोहिया के समाजवादी चिन्तन का मुख्य विषय, शोषण, अन्याय व बदहाली से ग्रसित मनुष्य है जिसे वह न्याय दिलाना चाहते थे। भारतीय राजनीति में एक नाम हमेशा चमकता रहेगा वह नाम हैं डॉ० राम मनोहर लोहिया का। न जाने क्यों आज भी जब उनका नाम लिया जाता है तो लाखों लोग एक साथ उठ जाते हैं। उनकी जब भी बातें होती हैं तो लोग उसे गम्भीरता से सुनते हैं। उनके संघर्षमय जीवन से लोग सीख लेते हैं और राजनीति करने वाले अपने-अपने उद्देश्यों को पूरा करने हेतु उनके चिन्तन का अनुशरण करते हैं।

I UnHkz %

1. खर्च पर सीमा, प्रस्ताव और बहस, 21 कलाकार स्ट्रीट, कलकत्ता-7, 1967 ई०
2. डॉ० लोहिया, जाति प्रथा, नवहिन्द प्रकाशन, बेगम बाजार, हैदराबाद, पृ० 67, 1964 ई०
3. डॉ० लोहिया, समाजवादी आन्दोलन का इतिहास, समता विद्यालय न्यास, इलाहाबाद
4. डॉ० राममनोहर लोहिया का रॉची भाषण, भारतीय जाति तोड़ो सम्मेलन, पटना, 1968 ई०
5. डॉ० लोहिया, सात क्रान्तिया
6. सिंह, डॉ० अमर ज्योति, समाजवाद और डॉ० लोहिया, वाराणसी, पृ० 80
7. सिंह, डॉ० अमर ज्योति, समाजवाद और डॉ० लोहिया, सामकटोरा, वाराणसी पृ० 43
8. डॉ० लोहिया, इतिहास चक्र, पृ० 65

स्वतंत्रता का न्याय

स्वतंत्रता का न्याय

स्वतंत्रता सामाजिक न्याय का यद्यपि एक आवश्यक व महत्वपूर्ण तत्व है तथापि अधिक निश्चित अर्थ में, सामाजिक न्याय से आशय आर्थिक व सामाजिक क्षेत्रों में समानता की स्थापना है। स्वतंत्रता कतिपय बुनियादी अधिकारों की कल्पना करती है, जो व्यक्ति के नैसर्गिक विकास के लिए जरूरी है किन्तु अधिकारों का शायद ही कोई अर्थ है यदि समाज की रचना असमानता के सिद्धान्त पर हुई हो। एक न्यायपूर्ण व्यवस्था वह है, जो समान हो। व्यवस्था में जितनी अधिक विषमता होती है अन्याय व शोषण की संभावना उतनी ही अधिक होती है।

पारम्परिक भारतीय समाज में चारों ओर अत्यन्त पीड़ा कारक असमानता व्याप्त रही है तथा उसके चिन्ह आज के भारतीय समाज में भी देखे जा सकते हैं। साथ ही अब हमारे समक्ष हमारे देश का संविधान है, जो अपने नागरिकों के प्रति समानता का व्यवहार करने का वचन देता है। “आदर्श एवं वास्तविक स्थिति के बीच यह विरोधाभास हमारे सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अभिलक्षण बन गया है, जिसमें समानता का चारों ओर व्याप्त असमानता के साथ-साथ अपना अस्तित्व प्रदर्शित करता है” (आन्द्रे बेत्ते, 2000)। श्रेणीबद्ध व्यवस्था की विचारधारा श्रेष्ठता के विचार का समर्थन करती है। अतः जातियों की श्रेणी तथा असमानता ने जीवन के प्रति विभेदी नजरिया उत्पन्न किया।

सदियों से चले आ रहे भारतीय समाज की सामाजिक श्रेणीबद्ध व्यवस्था ने शूद्र वर्ग की जातियों पर अनेक सामाजिक-आर्थिक प्रतिबन्ध लगा दिये थे तथा उनकी स्थिति शोचनीय बना दी थी। इस असमानतापूर्ण व्यवहार के फलस्वरूप आज की पिछड़ी एवं अनुसूचित जातियाँ सामाजिक, शैक्षिक एवं आर्थिक रूप से अत्यधिक पिछड़ गईं। आदिवासी समुदाय, जो

*35 पटेल नगर, इन्दिरा नगर, लखनऊ, उ०प्र०

प्रायः जाति व्यवस्था से बाहर रहे, मुख्यतः भौगोलिक रूप से अलग-अलग पड़ जाने के कारण पिछड़े रहे। अतः उनके पिछड़ेपन की समस्या मुख्यतः प्रौद्योगिक एवं आर्थिक पिछड़ेपन से सम्बन्धित थी, न कि सामाजिक पिछड़ेपन से।

चूँकि अनुसूचित जातियाँ एवं अनुसूचित जनजातियाँ सबसे अधिक पिछड़ी हुई हैं, अतः प्रमुख क्षतिपूरक उपाय उनके लिए अनिवार्य रूप से किए जाते हैं। “किन्तु चूँकि पिछड़े वर्ग अवशिष्ट श्रेणी (residual category) के अन्तर्गत आते हैं, अतः उनके हितों के लिए उठाये जाने वाले कदम राज्य-आधारित होते हैं। यह श्रेणी सबसे अधिक विवादास्पद है। इसके कई कारण हैं जैसे— इसकी अद्भूत विषमजातीयता (heterogeneity), विशाल संख्या, तथा पहचान सम्बन्धी संदिग्धता, पिछड़ी एवं सवर्ण जातियों के बीच अपने-अपने हितों को लेकर होने वाला संघर्ष, तथा क्षतिपूरक लाभों का फायदा उठाने के लिए विभिन्न जातियों के बीच बढ़ती वैमनस्यता। भारत की ‘वोट बैंक’ की राजनीति के लिए भी यह मुद्दा अत्यन्त महत्वपूर्ण है।”

इसके अतिरिक्त मार्क गैलेन्टर अपने महत्वपूर्ण ग्रंथ *Competing Equalities: Law and the Backward Classes in India* (1991) में कहते हैं— “कुछ विशेष वर्गों को वरीयता देने के माध्यम से समानता स्थापित करने के प्रयासों की संवैधानिक संदर्भों में देखने की आवश्यकता है। संविधान में क्षतिपूर्णता का विचार औपचारिक समानता के विचार के समकक्ष प्रतीत होता है। क्षतिपूर्ति के रूप में प्राथमिकता दिए जाने के प्रावधान उन बलपूर्वक लागू किए जा सकने वाले मौलिक अधिकारों के ढाँचे के अन्तर्गत अपवाद सदृश प्रतीत होते हैं, जो कुछ विशेष समूहों के महत्त्व को कम करते हुए सभी को समानता की दृष्टि से देखने का प्रयत्न करता है।” किन्तु सार्वजनिक एवं व्यक्तिगत क्षेत्रों में लोगों के बीच किए जाने वाले भेदभाव पर संविधान द्वारा किया जाने वाला आक्रमण समानता का वातावरण निर्मित करने के लिए पूर्ण संविधान का मात्र एक भाग ही है। संविधान सरकार को इस बात का निर्देश भी देता है कि वह पिछड़ी जातियों की उन्नति के लिए विशेष प्रयास करे। इन वर्गों के लिए सरकारी नौकरियों एवं विधानमण्डल में प्रतिनिधित्व का प्रावधान रखने के साथ-साथ संविधान ‘राज्य नीति के नीति निर्देशक सिद्धान्त’ की भी घोषणा करता है।

“राज्य को समाज के कमजोर वर्गों और विशेष रूप से अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के शैक्षिक एवं आर्थिक हितों का संवर्धन करना चाहिए, तथा उन्हें सामाजिक अन्याय एवं सभी प्रकार के शोषण से बचाना चाहिए।

‘सामाजिक न्याय’ बनाम ‘अवसरों की समानता’ का मुद्दा अनेक समस्याओं से घिरा है जिनका निराकरण अपेक्षित है। साधारण एवं विस्तृत अर्थों में सामाजिक न्याय का तात्पर्य, समाज के कमजोर वर्गों यथा—वृद्धों, अभावग्रस्तों, गरीबों, स्त्रियों एवं बच्चों तथा सुविधाहीन वर्गों के अधिकारों से है। राज्य से अपेक्षा की जाती है कि वह इन वर्गों की जीवन के हृदयहीन प्रतियोगात्मक परिस्थितियों से रक्षा करे तथा उनकी इस प्रकार सहायता करे कि वे समाज के उन्नत एवं सबल वर्गों के साथ-साथ समान अवसरों का लाभ उठा सकें। आन्द्रे बेत्ते कहते हैं— “अवसरों की औपचारिक (Formal) एवं वास्तविक (Substantive) समानता में भी अन्तर है। अवसर की औपचारिक समानता यह माँग करती है कि हम जाति, समुदाय एवं लिंग आदि के आधार पर लोगों में किसी प्रकार का भेदभाव न करें किन्तु अवसर की वास्तविक समानता प्राप्त करने की दृष्टि से हमने इस प्रकार के भेदभाव एक नए सिरे से पुनः स्थापित करने प्रारम्भ कर दिये हैं।” समानता एवं सामाजिक न्याय आधुनिक विश्व में एक ऐसी अवधारणा के रूप में उभर कर सामने आए हैं, जिनसे विश्व के सभी लोग समान रूप से संबंध रखते हैं। ऐसा कहा जाता है कि इन अवधारणाओं के प्रति भारतीयों ने अपना संबंध प्रदर्शित करना तब प्रारम्भ किया जब वे बाह्य विश्व, विशेष रूप से पश्चिमी देशों से जुड़े।

रक्षात्मक भेदभाव की नीति सामाजिक विकास का आधार है। मार्क गैलेन्टर कहते हैं— “आरक्षण पिछड़ी जातियों को असमानता से छुटकारा पाने के लिए एक प्रकार की रक्षात्मक ढाल प्रदान करता है। अतः समानता की घोषणा न्यायविहीन हो जायेगा जबकि उसे रक्षात्मक व क्षतिपूरक विभेद के साथ नहीं रखा जाता।”

I UnHk%

1. Beitelte, Andre 1995. Caste, Class and Power: Changing Patters of Social Stratification. Berkeley. They Regents of university of California.
2. Deliege, Robert 1999. The Untouchables of India. New York. Berg Publishers.
3. Fernandes, Walter 1996. The Emerging Dalit Identity: The Reassertion of the Subalterns. New Delhi. Indian Social Institute.
4. Galanter, Marc 1989. Law and Society in Modern India Delhi. Oxford University press.
5. Gupta, Dipankar (ed.) 2000. Interrogating Caste: Understanding Hierarchy and difference in Indian Society. New Delhi. Penguin Books India.
6. Ilaiah, Kancha 1996. Why I am not a Hindu: A Shudra Critique of Hindutva Philosophy, Culture and Political Enconomy. Calcutta. Samya.
7. Omvedt, Gail 1994. Dalits and the Democratic Revolution: Dr. Ambedkar and the Dalit Movement in Colonial India. New Delhi. Sage Publications.

I kekftd U; k; , oa i pk; rh jkt i dt fl g*

सामाजिक न्याय, कल्याणकारी राज्य का ना सिर्फ आदर्श है बल्कि उसका दायित्व है कि जनकल्याण के कार्यों, अर्थात् सामाजिक न्याय के आदर्शों को सुरक्षा एवं संरक्षण के साथ प्रभावी रूप से प्रगतिशील बनाए रखा जाए। उत्तम सामाजिक व्यवस्था वही होती है जिसमें सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय, राष्ट्रीय जीवन की समस्त संस्थाओं से प्रकट हो। राज्य अपने नागरिकों को सामाजिक न्याय प्रदान करने व मानव के मूलभूत अधिकारों की सुरक्षा करने में सक्षम हो। सामुदायिक स्रोतों का निष्ठापूर्वक एवं उचित वितरण, राज्य की व्यवस्थापिका या अन्य किसी संस्था द्वारा इस प्रकार से किया जाए कि प्रत्येक नागरिक के जीवन-यापन के अधिकार की संरक्षा की जा सके। मुख्य रूप से सामाजिक न्याय में अधिक जोर इस बात पर दिया जाता है कि सामाजिक व्यवस्था इस प्रकार से बनायी जाए कि जिसमें प्रत्येक व्यक्ति "आत्म सम्मान" से रह सके। समाज के सर्वांगीण विकास व सामाजिक न्याय के लिए, उपयुक्त सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक वातावरण तैयार किया जाए तो ये सम्भव हो सकता है। इसके लिए न केवल यह आवश्यक है कि सभी दलितों व पीड़ितों को अत्याचारों से मुक्त किया जाए, बल्कि ऐसी संस्थाएं स्थापित की जाएं जो न केवल लोकतांत्रिक हो बल्कि जनता के समीप हो।

विकेन्द्रीकरण के इस दौर में राज्य अपने अधिकारों व कर्तव्यों को अधिक से अधिक विकेन्द्रीकृत कर शहरी एवं ग्रामीण स्थानीय संस्थाओं को सशक्त कर रहा है। विकेन्द्रीकृत शासन की दिशा में देश में किए जा रहे प्रयासों में आज सामाजिक न्याय की ग्रामीण सन्दर्भों में प्रासंगिकता स्वयंसिद्ध है। आज शहरी क्षेत्र में नागरिक अपने अधिकारों के प्रति अपेक्षाकृत अधिक जागरूक हैं ही साथ ही उन्हें विभिन्न सुविधाओं की

*असि० प्रोफेसर, समाजशास्त्र, म० गाँ० का० वि० (गंगापुर परिसर) वाराणसी, उ०प्र०

उपलब्धता भी है। जबकि ग्रामीण भारत में जहाँ की देश की लगभग 70 प्रतिशत जनसंख्या निवास करती है वह ग्रामीण क्षेत्र आज भी विभिन्न प्रकार के अभावों, अव्यवस्था, शोषण, गरीबी, बेकारी, अशिक्षा आदि में अपना जीवन जीने को मजबूर है। ऐसे समय में स्थानीय संस्थाओं विशेषकर पंचायत राज संस्थाओं की सामाजिक न्याय की स्थापना के सन्दर्भ में भूमिका और बढ़ जाती है।

पंचायत ऐसी ही संस्था है जो न केवल जनता के समीप है, बल्कि जिसमें जनता को, औरतों और समाज के उपेक्षित वर्गों को सभी स्तरों पर – गाँव, खण्ड विकास और जिला स्तर पर पर्याप्त प्रतिनिधित्व दिया गया है। उदाहरण के लिए सभापति और सदस्यों के रूप में देश भर में पंचायतों के (तीनों स्तरों पर) 30 लाख से अधिक प्रतिनिधि हैं। निर्वाचित प्रतिनिधियों का इतना बड़ा आधार अन्य किसी देश में नहीं है। प्रजानात्रिक विकेन्द्रीकरण का प्रमुख उद्देश्य ग्रामीण विकास के कार्यक्रमों में समान जनसहभागिता को बढ़ावा देना तथा उन्हें अधिक से अधिक स्वायत्तता प्रदान करना है। इसके लिए पंचायती राज व्यवस्था में महिलाओं एवं अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति वर्ग के लोगों को समुचित प्रतिनिधित्व प्रदान करने हेतु आरक्षण का प्रावधान किया गया है तथा इसे पूर्ण स्वायत्त लोकतांत्रिक निकाय का दर्जा दिया गया है। इसका उद्देश्य सामाजिक न्याय के साथ-साथ विकास के लक्ष्यों को प्राप्त करना है।

पंचायती राज व्यवस्था में भारतीय ग्रामीण समाज की रीढ़ है। भारत में प्राचीन काल से पंचायती राज व्यवस्था की सुदृढ़ परंपरा रही है। इसी परंपरा में संविधान का 73वाँ संशोधन अधिनियम एक क्रांतिकारी परिवर्तन है। 73वें संविधान संशोधन अधिनियम के माध्यम से भारत में न सिर्फ पंचायती राज व्यवस्था को पुनर्जीवित किया गया वरन् उन्हें स्थायित्व भी प्रदान किया गया है। 73वें संविधान संशोधन द्वारा पंचायती राज व्यवस्था की स्थापना के पीछे मुख्य उद्देश्य यही है कि समाज में सामाजिक एवं आर्थिक न्याय की स्थापना हो। "राज्य विधानमंडल विधि द्वारा पंचायतों को ऐसी शक्तियाँ प्रदान करेंगे जो कि उन्हें स्वशासन की संस्था के रूप में कार्यरत बना सके तथा जिनसे पंचायतें आर्थिक विकास एवं सामाजिक न्याय के लिए योजनाएं बना सके एवं उनका क्रियान्वयन कर सकें।"

भारतीय संविधान में ग्यारहवीं अनुसूची जोड़कर सामाजिक न्याय एवं आर्थिक विकास से संबंधित 29 विषय योजना निर्माण एवं क्रियान्वयन हेतु पंचायतों को सुपुर्द किए गए।

पंचायत व्यवस्था की स्थापना के अनेक उद्देश्यों में एक उद्देश्य है प्रत्येक पंचायत क्षेत्र में आर्थिक विकास करना। पंचायतों की संस्थाओं को सक्रिय करने का एक मूल कारण भी यही है कि समाज में व्याप्त गरीबी, शोषण और आर्थिक असमानताओं को इन संस्थाओं के माध्यम से दूर किया जाए और इस प्रकार की व्यवस्था केवल तभी संभव है जब पंचायतों के द्वारा अपने दायरे में व्याप्त बुराइयों को दूर करने के लिए क्षेत्र का आर्थिक विकास किया जाए। पंचायत क्षेत्र में सभी वर्गों को सामाजिक आर्थिक विकास का लाभ मिले इसके लिए आवश्यक है कि नियोजन की प्रक्रिया विकेंद्रीत हो। स्थानीय जनता तय करे कि उनकी आवश्यकताएं क्या हैं, वे बतलाएं कि वहां क्या संसाधन उपलब्ध हैं और उन संसाधनों का उपयोग उनके हित में हो तथा विकास का लाभ उस क्षेत्र में रहने वाले सभी वर्गों को बिना किसी भेदभाव के मिले।

आर्थिक विकास की विशिष्ट योजनाओं जैसे गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम हाथ में लिए जाएं और स्थानीय गरीबी की समस्या को हल किया जा सके।

पंचायतों एवं नगर पालिकाओं की नयी व्यवस्था के अन्तर्गत समाज के कमजोर वर्गों अनुसूचित जाति एवं जनजाति के लोगों को जो देश की कुल जनसंख्या का लगभग 25 प्रतिशत हैं, पंचायतों में सक्रिय भूमिका निभाने के लिए इन्हें पंचायतों के सदस्यों एवं अध्यक्षों के रूप में चुने जाने की व्यवस्था की गयी है। 73वें संविधान संशोधन द्वारा अनुसूचित जनजाति क्षेत्रों में आदिवासियों के लिए विशेष व्यवस्था की गयी है। इसके अतिरिक्त पंचायत संस्थाओं के तीनों स्तरों के सदस्यों एवं अध्यक्षों के पदों को राज्य सरकारें पिछड़े वर्ग के लिए आरक्षित करने हेतु स्वतंत्र होंगी। इस प्रकार समाज में दलित व पिछड़े वर्गों के राजनीतिक भागीदारी द्वारा सामाजिक न्याय के आदर्शों को प्राप्त करने में अत्यधिक सहायता व बल प्राप्त होगा। लगभग 10 लाख महिलाओं को पंचायतों एवं नगरपालिकाओं

में चुने जाने का मौका मिलेगा। जिससे महिला सशक्तिकरण की सम्भावना में वृद्धि होगी।

सामाजिक न्याय के लक्ष्य को प्राप्त करना व समाज के प्रत्येक नागरिक को सामाजिक न्याय के आदर्श से लाभान्वित करना पंचायती राज व्यवस्था का सर्वोच्च लक्ष्य है। पंचायती राज का अन्य उद्देश्यों के साथ-साथ यह भी मुख्य उद्देश्य है कि, गाँव की परम्परावादी व्यवस्था के सामाजिक संरचना में सकारात्मक परिवर्तन के माध्यम से एक ऐसी नवीन सामाजिक संरचना का निर्माण किया जाए जहां असमानता, अन्याय, सामाजिक बुराइयों का स्थान न हो। नवीन सामाजिक व्यवस्था में सभी को स्वतंत्रता, समानता, न्याय के अवसर समान रूप से उपलब्ध हों, समाज में जब सामाजिक न्याय के आदर्श की स्थापना होती है तब सभी को अर्थात् समाज के प्रत्येक वर्ग को सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक न्याय मिलेगा। धर्म, जाति, वर्ग, लिंग आदि के आधार पर असमानता अस्वीकार्य होगी। किसी प्रकार का शोषण नहीं होगा, सभी को शिक्षा, स्वास्थ्य, सामाजिक सुरक्षा और काम पाने का समान अधिकार होगा।

सामाजिक न्याय के उपरोक्त आदर्शों को प्राप्त करना पंचायती राज संस्था के प्रमुख उद्देश्यों में सर्वोपरी उद्देश्य है। परन्तु सामाजिक न्याय के आदर्शों को प्राप्त करने के लिए हमारी पंचायतों को अभी काफी दूरी तय करना बाकी है। आज सामाजिक एवं आर्थिक असमानता का विद्यमान परिदृश्य इस बात का स्पष्ट रूप से संकेत देता है कि, कल्याणकारी राज्य द्वारा समतामूलक समाज की स्थापना नहीं हो पायी है, समाज में सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक असमानता विविध स्तरों पर विद्यमान है। आज जब पंचायतों के माध्यम से विकेंद्रीकृत शासन व्यवस्था कार्यरत है जिसमें समाज के सभी वर्गों की भागीदारी सुनिश्चित की गयी है। अब आवश्यकता इस तथ्य की है कि ये पंचायती राज संस्थाएं अपने अंतर्निहित उद्देश्य के अनुरूप सामाजिक न्याय एवं आर्थिक विकास की दिशा में कार्य करें, जिससे की एक समतामूलक सामाजिक व्यवस्था की स्थापना संभव हो एवं सामाजिक न्याय प्राप्त किया जा सके और इसके लिए पंचायतें अपनी भूमिका का निर्वहन उचित तरीके से करें।

I UnHkZ %

1. Raghavan Iyer (ed.), 1996; *The Essential Writings of Mahatma Gandhi*, Oxford University Press, Delhi, pp. 358-359.
2. A. R. Desai, 1997; *Rural Sociology in India*, Popular Prakashan, Bombay, p. 534.
3. Bidyut Mohanty, 1995; "Panchayati Raj, 73rd Constitutional Amendment and Women", *Economic and Political Weekly*, December, 30, p. 3346
4. George Mathew, 1955; *Status of Panchayati Raj in India*, Concept, New Delhi,
5. Bidyut Mohanty, op. cit., p. 3347.
6. Jocelin, Kynch and Sen, A. K. 1987; "Indian Women: Well Being and Survival,": *Cambridge Journal of Economics*, Vol. VII, Nos. 3 and 4, 1983; and Monica Das Gupta, "Selective Discrimination Against Female Children", *Population and Development Review*, Vol. XIII, 1,

egkRek xk/kh vk\$ MkK Hkhe jko vEcMdj ds
vLi"; rk l c/kh fopkj
MkK jatuk fl g*

प्रस्तुत शोध पत्र गोलभेज सम्मेलन के बीच की अवधि में महात्मा गाँधी और डॉ० भीम राव अम्बेडकर के अस्पृश्यता संबंधी विचार को रेखांकित किया गया है।

गाँधी जी ने कहा भारत की स्वतंत्रता की कीमत पर भी मैं अस्पृश्यों के हितों की अवहेलना नहीं कर सकता। मैं मात्र कांग्रेस की तरफ से नहीं कहता बल्कि अपनी ओर से भी कहता हूँ कि यदि अस्पृश्यों का कोई जनमत कराया जाए तो मैं सबसे शीर्ष स्थान पर रहूँगा। अस्पृश्यता के बने रहने की अपेक्षा उचित है कि हिन्दू धर्म मर जाए। इसलिए डॉ० अम्बेडकर के प्रति तथा उनकी क्षमता के प्रति सम्पूर्ण श्रद्धा के साथ मेरा निवेदन है कि अस्पृश्यों के स्थान की उनकी इच्छा पूरी हो। वे बड़ी गलतफहमी में जिए हैं और उन्होंने श्रम किया है, पर अपने बयान को उन्होंने विकृत कर दिया है। इस कथन से मुझे दर्द होता है। सच बात यह कि अस्पृश्यता के दुःख मेरे अपने जीवन के दुख हैं और ऐसा मैं न कहूँ तो मैं अपने जीवन के प्रति असत्य ही रहूँगा। सारी दुनियाँ के साम्राज्य के बदले में भी मैं अस्पृश्यों के हितों को नहीं खो सकता। मैं यह बात सम्पूर्ण जिम्मेदारी के साथ कह रहा हूँ कि डॉ० अम्बेडकर के लिए यह दावा करना उचित नहीं है कि वे सारे भारत के दलितों का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। यह हिन्दू धर्म में विभाजन पैदा कर देगा, मैं इसको देख नहीं पाऊँगा और न ही ऐसा कोई कृत्य मुझे कोई संतोष देगा। मुझे कोई एतराज नहीं होगा यदि कोई मुस्लिम या ईसाई धर्म में शामिल हो जाए पर ग्राम स्तर तक हिन्दू धर्म दो भागों में विभाजित हो जाए—यह स्वीकार्य नहीं है। जो लोग अस्पृश्यों को राजनीतिक अधिकार देने की बात कर रहे हैं वे भारत को नहीं जानते और न ही भारत किस प्रकार

*असि०प्र०, शिक्षाशास्त्र विभाग, बंदी विशाल पी०जी० कालेज, फारूखाबाद, उ०प्र०

रचा गया है इसे जानते हैं। मैं जोरदार तरीके से यह कहना चाहता हूँ कि अगर मुझे इस बात का प्रतिरोध करना पड़ा तो मैं जिन्दगीभर इसका प्रतिरोध करूंगा।¹

इस सबके बारे में अम्बेडकर का क्या सोचना था? अम्बेडकर को यह वक्तव्य असहनीय यहाँ तक कि मूर्खतापूर्ण अहंकार लगा होगा। कांग्रेस में गाँधी के पीछे गंभीर समाज सुधारक नहीं थे (अम्बेडकर इस बारे में आश्वस्त थे), बल्कि ब्राह्मण तथा अन्य ऊँची जाति के लोग थे जो भारत को सामाजिक, आर्थिक स्थितियों पर अपना एकाधिकार बनाए रखना चाहते थे। किसी भी स्वराज में अपने हितों को बनाए रखने की उनकी आकांक्षा थी। क्या अलग निर्वाचन दलितों के लिए इतना नुकसानदायक था? दलितों में अभी भी इस मुद्दे पर बहस जारी है।²

ग्रामों में राजनीतिक विभाजन की चर्चा करते समय गाँधी यह भूल गए कि ऐसा विभाजन पहले से ही मौजूद था। हिंसा की चेतावनी देते समय भी गाँधीजी यह भूल गए कि गाँवों में दलितों के विरुद्ध हिंसा पहले से ही विद्यमान थी। यह दावा कि वे अस्पृश्यों के नाम पर बोल रहे हैं या अस्पृश्यों की समस्याओं पर बोल रहे हैं अथवा अस्पृश्यों के मूलभूत हितों पर उनकी चिंता है, वे दलितों के परिप्रेक्ष्य से नहीं बोल रहे थे, न वे एक राष्ट्र नेता की हैसियत से बोल रहे थे। दूसरे गोलमेज सम्मेलन में वे एक हिन्दू की तरह बोल रहे थे, दूसरे गोलमेज सम्मेलन में गाँधी का रुख यही था।

नैतिकवाद के पीछे एक राजनैतिक चुनौती विद्यमान थी। गाँधी अम्बेडकर के प्रतिनिधि स्वरूप को चुनौती दे रहे थे और कह रहे थे कि वे और उनकी कांग्रेस दलितों के प्रतिनिधि थे। लंदन में गाँधी के साथ झड़प के बाद एक राजनीतिक संघर्ष होना तय था। सारे कांग्रेस अभिजन जिसमें कांग्रेस समर्थक अखबार भी थे, अस्पृश्यों को पटाने के लिए बैठकें करने लगे। उन्होंने दलितों के प्रवक्ता भी तैयार किए। जिनका प्रमुख उद्देश्य अम्बेडकर का विरोध करना था। अस्पृश्य अम्बेडकर की निंदा कर रहे हैं, ऐसा प्रचार वे कर रहे थे। संयुक्त निर्वाचन के समर्थन में एक लहर चल रही है।³

अम्बेडकर तथा उनके जुझारू दलितों ने इसका जवाब प्रदर्शनों से दिया (प्रदर्शनों में नव स्थापित समता सैनिक दल ने भरपूर योगदान दिया)। उन्होंने अन्य दलित संगठनों से भी सहयोग मांगा।⁴

जहाँ तक महाराष्ट्र का प्रश्न है, अम्बेडकर अपनी लामबंदी की लड़ाई जीत गए। हम इसकी तुलना 1922 में नागपुर में गवई द्वारा आयोजित प्रदर्शन से कर सकते हैं।⁵

दूसरी ओर दूसरे सम्मेलन से लौटने पर काले झण्डे लिए 8,000 से अधिक लोगों ने गाँधी के खिलाफ प्रदर्शन किया।⁶

बहुमत के जाति हिन्दुओं की अपेक्षा गरीब शोषित वर्ग के लोगों का यह प्रदर्शन अधिक प्रभावशाली था। लेकिन गैर-महार दलितों में कांग्रेस कुछ पैठ जमा पाई। अम्बेडकर ने तत्कालीन संगठनों का समर्थन जीत लिया था। लामबन्दी के अन्य स्थानों पर निम्न स्तर का अर्थ था कि न तो गाँधी और न अम्बेडकर को बड़ा जनसमर्थन प्राप्त था।

जनवरी 1933 में टाइम्स ऑफ इंडिया में प्रकाशित एक अनाम पत्र में यद्यपि कथन बढ़ा-चढ़ा कर लिखा गया था, पर उसमें कुछ सार जरूर था।

हिन्दू राजनीतिज्ञ अब दलितों को गले लगाने लगे हैं। अंशतः इसलिए क्योंकि देश की राजनीति में उनका महत्वपूर्ण प्रवेश हो चुका है इसके अलावा उनको स्वयं के भविष्य की चिन्ता है। यदि डॉ० अम्बेडकर चाहते हैं तो उन्हें इन लोगों को न केवल हिन्दुओं में बल्कि उन्हें ब्राह्मणों में शामिल करना पड़ेगा। आज की स्थिति यही है।⁷

जब गाँधी ने अस्पृश्यता के विरुद्ध संघ की स्थापना करने का प्रसास किया (यह संगठन हरिजन सेवक संघ था)। अम्बेडकर ने यहाँ हस्तक्षेप करने का प्रसास किया। दो मुद्दे थे। पहला-क्या संघ का नियन्त्रण हिन्दू जातियों के हाथों में रहेगा या दलितों को उसके नियन्त्रण में कुछ भागीदारी मिलेगी? दूसरा-क्या संघ का इरादा मात्र अस्पृश्यता को समाप्त करना है या चातुर्वर्ण व्यवस्था को समाप्त करना है जो अस्पृश्यता का मूल है। गाँधी का दृढ़ विश्वास था कि हिन्दू जातियाँ ही इस पर नियन्त्रण करेंगी। क्योंकि अस्पृश्यता हिन्दू समाज का दोष है अतः हिन्दुओं को इसे निकाल फेंकना पड़ेगा। इसी तर्क के आधार पर संघ का

नियन्त्रण हिन्दू जातियों के हाथ ही रहना चाहिए। उनका यह भी कहना था कि वे चातुर्वर्ण व्यवस्था के विरुद्ध नहीं हैं।^१

इस आधार पर गाँधी और अम्बेडकर का साथ-साथ काम करना असम्भव था। 1930-32 की घटनाएं एक सुर की थीं। इस घटनाओं ने यह दिखा दिया था कि किस प्रकार दलित आन्दोलन ने अपने आपको मजबूत किया है, अम्बेडकर को स्थापित किया है तथा अस्पृश्यता के मुद्दे को राजनीति की मुख्य धारा में ला दिया है। हिन्दू धर्म के प्रति अम्बेडकर का यह अंततः तिरस्कार था और दलित जुझारू शक्तियों के नेतृत्व को करने के लिए आश्वस्त हो गए थे कि यदि हिन्दू धर्म को सुधार भी दिया जाए तो भी दलितों को स्वायत्तता की प्राप्ति नहीं हो सकती। इन घटनाओं ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि—(अ) गाँधी जो हिन्दूवाद के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि थे चातुर्वर्ण व्यवस्था से कभी भी नहीं हटेंगे और उसे संरक्षण ही देते रहेंगे। (ब) उपवास और समझौते के इर्द-गिर्द नैतिकता का वातावरण होते हुए भी यह शक्ति और लेन-देन (शक्ति को प्राप्त करने के लिए) का खेल था। (स) हिन्दू जातियों का एक बड़ा वर्ग दलितों को इस सीमित अधिकार देने के विरुद्ध था जैसा कि पूना समझौते के विरुद्ध उठे तूफान और प्रदर्शनों से स्पष्ट हैं। (द) अन्य दलित नेतृत्व का ऊँची जातियों द्वारा प्रयोग किया जा सकता था, जब तक कि वे अपनी पहचान हिन्दुओं के साथ बनाए रखते।^१ संक्षेप में, गाँधी और अम्बेडकर दोनों ही अस्पृश्यता समाप्त करना चाहते थे।

I UnHkz %

1. सोर्सेज, खण्ड-प्रथम, पृ0 661-63
2. उदाहरण के लिए देखें रावसाहेब कास्बे, अम्बेडकर एण्ड मार्क्स (पूना, सुगवा प्रकाशन, 1985) तथा काँशी राम, द चमचा एज: एन एरा ऑफ द स्टूजेज(नई दिल्ली, लेखक,1952)
3. सोर्सेज, खण्ड I, पृ0 53-83
4. करीब-करीब सभी समाचार पत्रों में प्रकाशित रिपोर्ट विशेष रूप से राष्ट्रवादी समाचार पत्र बॉम्बे क्रॉनिकल में अम्बेडकर के प्रति विरोध के बारे में छपा था। देखें सोर्सेज, खण्ड-प्रथम, पृ0 74-75

5. 7 मई तथा 23 मई 1932 के बॉम्बे क्रॉनिकल में प्रकाशित रिपोर्ट, सोर्सैज, खण्ड प्रथम, पृ0 78-79 पर उद्धृत
6. जिलट, 'लर्निंग द यूज ऑफ पोलिटिकल मीन्स: द महार्स ऑफ महाराष्ट्र' लेख प्रकाशित-रजनी कोठारी (सम्पादक) कास्ट इन मॉडर्न इण्डियन पोलिटिक्स (पूना, ओरियंट लांगमैन्स, 1970) पृ0 48
7. टाइम्स ऑफ इण्डिया, 2 जनवरी, 1920, उद्धृत-सोर्सैज, खण्ड प्रथम, पृ0 104
8. अम्बेडकर के गवई की पत्र के सदर्थ में देखें सोर्सैज, खण्ड प्रथम, पृ0 72-83
9. ओमवेट, गेल, 2009, दलित और प्रजातान्त्रिक क्रान्ति अनुवादक: नरेश भार्गव, रावत पब्लिकेशन, जयपुर, पृ0 168

I kekftd U; k; vG nfykr I ekt

MKND Hkkj rh i k. Ms *

परम्परागत हिन्दू सामाजिक-व्यवस्था में उच्च स्थान पाने की जटिल प्रक्रिया में निम्न जाति के लिए तीन मार्ग – सामाजिक संघर्ष, संस्कृतिकरण एवं धर्मान्तरण थे। दलितों ने सामाजिक अन्याय से मुक्ति एवं समानता, स्वतन्त्रता पर आधारित समाज-व्यवस्था की स्थापना के लिए सभी प्रकार के प्रयास किये। दलित आन्दोलनों के कार्यक्रमों के अन्तर्गत दलितों ने अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए संघर्ष किये तथा उच्च प्रस्थिति प्राप्ति के लिए संस्कृतिकरण की प्रक्रिया अपनायी। आपेक्षित परिणाम न पाकर धर्म परिवर्तन भी किया। बौद्ध धर्मान्तरण दलित आन्दोलन की दशा में सामने आया। सामाजिक आन्दोलन की भूमिका निर्धारित लक्ष्यों पर आधारित कार्यक्रमों द्वारा निर्धारित होती है। यह समाज के किसी भाग द्वारा किसी वैचारिकों के माध्यम से आंशिक या सम्पूर्ण परिवर्तन लाने के लिए किया जाने वाला संगठित प्रयास है।¹ इन आन्दोलनों को इनके तत्त्वों के आधार पर परिभाषित किया जा सकता है। किसी भी आन्दोलन के स्थायित्व एवं विकास के लिए वैचारिकी आवश्यक है। आन्दोलन की निर्भरता आन्दोलन के संगठन एवं नेतृत्व पर होती है। किसी भी आन्दोलन की निरन्तरता के लिए दो बातें निश्चित एवं स्पष्ट कार्यक्रम तथा जन सहभागिता आवश्यक होती है। लोगों में परिवर्तन की इच्छा और उसके लिए सामूहिक प्रयत्न आन्दोलन को मजबूती प्रदान करते हैं।² सामाजिक आन्दोलन सामाजिक परिवर्तन लाने अथवा किन्हीं सामाजिक परिवर्तनों का विरोध करने के लिए होते हैं।³ यह सामाजिक पदक्रम या व्यवस्था में परिवर्तन, सामाजिक संरचना या संस्कृति में परिवर्तन के लिए सामूहिक प्रयास और विश्वास है।

आन्दोलन सुधारवादी, रुपान्तरणात्मक, क्रान्तिकारी या प्रतिक्रियावादी होते हैं। वैचारिकी पर आधारित आन्दोलन प्ररोध आन्दोलन होते हैं। समाजशास्त्रीय भाषा में प्ररोध आन्दोलन सामाजिक ढाँचे के शक्ति विहीन

*दुर्गा चौक, जमनियाँ, गाजीपुर, उ०प्र०

वर्ग द्वारा शक्तिशाली वर्ग के विरुद्ध किये जाते हैं। ऐसे आन्दोलनों का प्रारम्भ शोषितों एवं वंचितों की जागृति के फलस्वरूप होते हैं। इस प्रकार के आन्दोलन एक समानान्तर वैचारिकी, एक समानान्तर संरचनात्मक प्रारूप तथा एक समानान्तर मूल्य व्यवस्था की स्थापना के लिए किये जाते हैं। सामाजिक आन्दोलन किसी-न-किसी वैचारिकी पर आधारित होते हैं।⁴ वैचारिकी विचारों, विश्वासों तथा प्रतीकों की संहिता होती है जो सामाजिक संस्थाओं, सम्बन्धों एवं परिस्थितियों की व्याख्या करती है और उस पर आधारित वैयक्तिक व सामूहिक क्रियाओं को सन्तुष्ट करती है।⁵ नवबौद्ध आन्दोलन भारतीय समाज की सामाजिक, आर्थिक विषमताओं, रुढ़ियों एवं अन्याय के विरुद्ध है। यह समता, स्वतन्त्रता एवं बन्धुत्व के लिए किया गया आन्दोलन है। यह वर्णव्यवस्था के पोषक राजनीतिज्ञों एवं सामाजिक नेताओं के खिलाफ भी है। 1980 के दशक में कांशीराम द्वारा चलाया गया आन्दोलन सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं राजनीतिक रूप से दलितों की भागीदारी से सम्बन्धित था।

वर्तमान राजनीतिक परिदृश्य में जब जातियों के आधार पर राजनैतिक गोलबन्दी तेज हुई तो सही मायने में कांशीराम ही ऐसे नेता थे जिन्होंने व्यवस्था बदलने के लिए जाति के समाप्त होने का इन्तजार नहीं किया था। उन्होंने जातियों, उपजातियों में सहअस्तित्व और आत्म-सम्मान की भावना जगाकर उन्हें अपनी सामाजिक स्थिति सुधारने तथा सत्ता में हिस्सेदारी की महत्वाकांक्षा के साथ संगठित किया। समकालीन राजनीति में उनके इस योगदान ने न केवल हाशिये पर खड़े लोगों को मुख्य धारा से जोड़ा, बल्कि भविष्य की राजनीति का दिशा भी तय कर दी। उन्होंने अधिकार और अवसरों से वंचितों को अधिक चेतना और अवसरवादी बनने को कहा। कांशीराम 1957 में भारतीय भूगर्भ सर्वेक्षण विभाग में नौकरी की, लेकिन बाद में वहाँ से इस्तीफा देकर पुणे में अनुसन्धान रक्षा लेबोरेटरी में केमिस्ट बन गये। 1964 में वह महाराष्ट्र में आर.पी.आई. के साथ जुड़े, इसी दौरान उन्होंने बाबा साहेब अम्बेडकर की दो पुस्तकें पढ़ी, जो जाति-व्यवस्था समाप्त करने तथा अस्पृश्य लोगों के लिए गाँधी जी और कांग्रेस के कार्यों से सम्बन्धित थी। 1978 में उन्होंने बैकवर्ड एण्ड माइनरिटीज एम्प्लाइज फेडरेशन का गठन किया। यह अराजनीतिक और गैरधार्मिक संगठन था।

6 दिसम्बर 1981 को उन्होंने दलित शोषित समाज संघर्ष समिति (डी.एस. 4) का गठन किया और लोकप्रिय नारा दिया – 'ठाकुर, ब्राह्मण, बनिया छोड़ बाकी सब है डी.एस. 4'। डी.एस. 4 की तरह ही कांशीराम ने बामसेफ का गठन किया। बामसेफ ब्राह्मणवादी व्यवस्था में बदलाव चाहता था। बामसेफ की तरफ से एक नारा आया— 'तिलक, तराजू और तलवार इनको मारो जूते चार। जब दलित संगठित होने लगे तथा राजनीतिक उद्देश्यों के पूर्ति के लिए इस नारे में बदलाव आया 'तराजू को माफ करो तलवार को हाफ करो, तिलक को साफ करो। इससे स्पष्ट होता है कि वह ब्राह्मणवादी व्यवस्था से बहुत असन्तुष्ट थे।

डॉ. अम्बेडकर के बाद, देश में सही मायनों में दलितों को संगठित किया है वह व्यक्ति स्व. कांशीराम थे। जिन्होंने गरीबों, दलितों को जीने की राह दिखाई है। देश की आजादी के बाद की योजनाओं का लाभ समाज के एक बहुत छोटे से वर्ग को हुआ और एक बड़ा तबका उससे अछूता ही रहा। गरीबी, सामाजिक विभेद तथा दलित उत्पीड़न को कम करने में ये योजनाएं कारगर साबित नहीं हुईं। संविधान प्रदत्त आरक्षण की नीति को नेक-नियती से लागू नहीं किया गया। आजादी के बाद के तमाम नेताओं ने छुआछुत हटाने का दायित्व भी संविधान में ही बन्द करके रख दिया। व्यवहार में कमोवेश पेशवाई ही चलती रही। जाहिर है, जिस जनता को अशिक्षित रखा गया, उनमें जागरुकता नहीं आई। इन सब चीजों को लेकर दलित वर्ग में लगातार असन्तोष बढ़ता गया। यही तीन पीढ़ी का व्यापक असन्तोष कांशीराम का राजनीतिक आधार बना तथा उसका उन्होंने उपयोग किया। सोशल इंजीनियरिंग का उन्होंने जो सफल मन्त्र दिया है वह भारतीय इतिहास में अद्वितीय है।

दूसरी ओर, हिन्दी क्षेत्रों में आरक्षण का लाभ दलितों में जिस तबके ने सबसे पहले और सबसे अधिक लिया, उसमें जाति को लेकर गहरी हीन भावना आती गयी, वह अपनी जाति छिपाकर रहने लगा। वह तबका अम्बेडकर, फूले या रैदास का नाम लेने वालों से दूरी बनाने लगा। वह अम्बेडकर जयन्ती तक में भाग लेने से कतराने लगा था। ऐसे लोगों को कांशीराम ने अपने साथ जोड़ा और उनमें आत्मविश्वास जगाया। कांशीराम इसे अवसर मानते थे और कहते थे कि स्वतन्त्रता के बाद बनी सरकार ने बड़ी संख्या में दलितों को

अनपढ़ रखकर अच्छा ही किया। पढ़े-लिखे लोगों को समझाना कठिन होता है, हम इन्हें समझा-सिखाकर लाइन पर ला सकते हैं। कांशीराम ने इन लोगों को अपने साथ जोड़ा भी। वे 6 दिसम्बर 1978 में बनी बामसेफ ने ही 1984 में बसपा को जन्म दिया। कांशीराम का उद्देश्य सर्वजन हिताय, सर्वजन सुखाय रहा, कांशीराम उन लोगों में से थे जो अपना सुख आराम त्यागकर गरीबों की सेवा में अपना जीवन न्योछावर कर देते हैं, जिन्दगी भर अविवाहित रहकर, बिना किसी लाभ के पद पर रहते हुए उन्होंने बसपा और दलित समाज को संगठित किया। जब बसपा ने चुनाव लड़ना शुरू कर दिया तो उन्होंने 'एक नोट एक वोट' का नारा देकर नोट और वोट खींचे। धीरे-धीरे उनकी लोकप्रियता बढ़ी और समर्थक उन्हें सिक्कों से तौलने लगे। इस पैसे का इस्तेमाल उन्होंने चुनाव लड़ने के लिए किया। उन्होंने खुद तो कभी राजनीति नहीं की लेकिन वंचितों के असन्तोष को राजनीतिक धार दी। हजारों लोगों को राजनीति में आने का मौका दिया इसी का परिणाम था कि उत्तर प्रदेश से 2006 के विधानसभा चुनाव में बसपा दलित शक्ति की प्रतीक बनकर उभरी और सत्ता में दलित आयें। दलितों में सामाजिक आत्मविश्वास, सिर उठाकर चलने, अपनी अस्मिता का बखान एवं मुखर होकर अपनी राजनीति को व्यक्त करने की उभरी प्रवृत्ति के रूप में देखा जा रहा है।

I Un0Z %

- 1 राव. एम0एस0ए0, 1979; सोशल मूवमेण्ट इन इण्डिया, कोलम्बिया, साउथ एशिया बुक्स।
- 2 राव. एम0एस0ए0, 1979; कानसेपचुयल प्राब्लम इन द स्टडी ऑफ सोशल मूवमेण्ट, एम.एस.ए. राव (संकलित) सोशल मूवमेण्ट इन इण्डिया (भाग-2), कोलम्बिया साउथ एशिया बुक्स, पृ0 2
- 3 रावत, हरिकृष्ण, 1986 : समाजशास्त्र कोश अवधारणाएं, खण्ड-1, रावत पब्लिकेशन, जयपुर, पृ0 155
- 4 राय. एम0एस0; सिंह. सन्दर्भ एवं भारती, 1990; सोशल मूवमेण्ट एण्ड सोशल ट्रान्सफारमेशन, मनोहर, दिल्ली
- 5 सिंह, आर.पी.जी., 1986; भारतीय दलितों की समस्याएँ एवं उनका समाधान, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल,

I kekftd U; k; dk irhd % eujsk

Mk0 I qhy i kgok*
Kku0nz fl g pku**

I kjk k

विकासशील भारत में समस्याएं हमेशा से बनी रही हैं। योजना काल में देश के विकास के साथ असमान एवं असंतुलित विकास को बढ़ावा मिला जिससे सामाजिक असमानता में भी तेजी से बढ़ोत्तरी हुई है। अतः सभी परिवारों को न्यूनतम आय के साधन उपलब्ध कराना अत्यावश्यक है। इसीलिए संविधान के 73वें संशोधन में सामाजिक न्याय के साथ आर्थिक विकास की संकल्पना करते हुए सरकार ने 2 फरवरी 2006 को देश के 200 सबसे पिछड़े गरीबीयुक्त जिलों में मनरेगा को लागू किया।

i Lrkouk 1/2 Introduction 1/2

आज देश की सबसे बड़ी आवश्यकता हर हाथ को काम देना है। हर हाथ को काम चाहिए, यह मांग बहुत पुरानी है और जब-तब उठती रही है। अब इसकी कानूनी गारंटी का सवाल है। सचमुच रोटी का सवाल पूरे देश में बहस का पहला एजेंडा है। आधुनिक और सभ्य समाज का यह सबसे बड़ा लक्षण है कि कहीं कोई भूखे पेट सोने पर मजबूर न हो। भूख से मुक्ति के लिए आजीविका का बंदोबस्त जरूरी है। इन्सान को भूख से बचाना सबसे बड़ा धर्म है, पहला ईमान है और यह सबसे पहले सरकार की जिम्मेदारी है।¹

सरकारी निर्धनता निवारण कार्यक्रमों में अव्यवस्थित योजना के कारण सामाजिक व्यवस्था में बाधाएं उत्पन्न होती हैं। इन योजनाओं का लाभ देश के सभी क्षेत्रों के सर्वाधिक निर्धन व्यक्तियों तक नहीं पहुँचा है। विविध कार्यक्रमों में कोई तालमेल नहीं है।²

*प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, जी0एस0 अर्थ-वाणिज्य महाविद्यालय, जबलपुर, म0प्र0

**शोध छात्र, वाणिज्य, जी0एस0 अर्थ-वाणिज्य महाविद्यालय, जबलपुर, म0प्र0

यह तथ्य है कि ग्रामीण लोग आज अधिक असंतुष्ट और कुण्ठित हैं। ये इस बात का संकेत है कि गरीबी उन्मूलन के विभिन्न कार्यक्रम अपनी वचनबद्धताओं को पूरा करने में असफल रहे हैं। इनमें विशेष रूप से छोटे व सीमान्त किसान, खेतीहर मजदूर, गाँव के कारीगर और अनुसूचित जाति एवं जनजाति के लोग सम्मिलित हैं। सामाजिक और आर्थिक जनगणना 2011 के अनुसार, भिन्न मानक वाले परिवार स्वतः गरीबी रेखा से नीचे माने जाएंगे— बेघर परिवार, निराश्रित व भिक्षुक, मैला ढोने वाले एवं आदिम जन जाति समूह आदि।

संविधान सभा के अंतिम बार सम्बोधन में 25 नवम्बर, 1949 को डॉ० बी०आर० अम्बेडकर ने कहा था— “सामाजिक स्तर पर भारत में एक ऐसा समाज है जो असमानताओं पर आधारित है जिसमें कुछ लोग उन्नति कि ओर कुछ अवनति की ओर अग्रसर हो रहे हैं।” आर्थिक क्षेत्र में हमारे समाज में कुछ लोग अत्यधिक धनवान हैं दूसरी तरफ ऐसे लोग भी हैं जो अत्यधिक गरीबी से त्रस्त हैं।³

eujxk dk ofpr oxl ds fodkl es; kxnxku&

भारत के समस्त 604 जिलों में अप्रैल 2008 से लागू नरेगा का नाम राष्ट्रपिता के नाम पर 2 अक्टूबर, 2009 से महात्मा गाँधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारन्टी अधिनियम कर दिया गया है। मनरेगा विश्व का अब तक का पहला ऐसा कानून है जिसमें व्यापक पैमाने पर मजदूरी रोजगार गारन्टी दी गई है। अधिनियम का प्राथमिक उद्देश्य मजदूरी रोजगार को बढ़ाना है। इसका सहायक उद्देश्य प्राकृतिक संसाधन प्रबंधन को सुदृढ़ बनाना है। जो कि सूखा, वन कटाई, मृदा क्षरण जैसे गरीबी के कारणों को दूर करते हैं। इस प्रक्रिया से लोकतंत्र का आधार सुदृढ़ होता है।

vkthfodk I j {kk rFkk foRrh; I ekos ku

मनरेगा ने काफी संख्या में लाभार्थियों को विशेषकर वंचित वर्ग के लोगों को बुनियादी आय सुरक्षा प्रदान किया है। यह योजना औसतन हर साल लगभग 5 करोड़ परिवारों को रोजगार प्रदान करती है। यह देश के कुल ग्रामीण परिवारों का लगभग एक चौथाई हिस्सा है। शुरुआत के बाद से ही मनरेगा ने 1348 करोड़ श्रम दिवस रोजगार का सृजन किया है। वित्तीय वर्ष 2006—07 से दिसम्बर 2012 तक 1,29,000 करोड़ रुपये मजदूरी पर खर्च किये गये हैं। यह रकम कुल खर्च का लगभग 70 प्रतिशत

है। मजदूरी भुगतान में पारदर्शिता और गड़बड़ी रोकने के लिए मनरेगा के श्रमिकों हेतु 8.6 करोड़ खाते बैंकों/डाकघरों में खोले गये हैं।⁶ योजनान्तर्गत अब तक 30 करोड़ परिवारों को रोजगार मिला है।

I ekos kh fodkl

मनरेगा के तहत उपलब्ध कराये गये रोजगारों में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों सहित वंचित समूहों की काफी अधिक भागीदारी है। इस योजना में इन वर्गों की हिस्सेदारी दर ज्यादातर राज्यों में कुल जनसंख्या में प्रतिशत हिस्सेदारी से अधिक है। इस योजना के तहत निजी भूमि पर उपलब्ध कराये गये कामों से वंचित लोगों को बहुत लाभ हुआ है। वर्ष 2006-07 से अभी तक लगभग 10 लाख परिवारों को लाभ हुआ है। मनरेगा ने ग्रामीण श्रमिकों को आय का एक वैकल्पिक स्रोत प्रदान किया है। इससे विषमतापूर्ण ग्रामीण श्रम बाजार में मजदूरों की सौदेबाजी की ताकत बढ़ी है। इस योजना ने श्रमिकों को काम के सम्मानजनक विकल्प प्रदान किये हैं विशेषतौर पर उन्हें जो कर्ज में डूबे होने के कारण बंधुआ मजदूर हैं अथवा ठेके के मजदूर हैं।⁶ मनरेगा ने विस्थापन उन्मुख परंपरागत रोजगार क्षेत्रों से संकटकालीन विस्थापन में भी कमी की है।

दलित होने मुसहर या आदिवासी होने का दंश झेलने वाले और उसके आधार पर सामाजिक विभेद का शिकार हो रहे लोग भी मनरेगा से लाभान्वित हो रहे हैं। महिलाएं भी परिवार की एक पैसा पाने वाली कमाई बनी है। इससे उनका सामाजिक सम्मान तो बढ़ा ही अब आर्थिक स्तर पर प्रभावी होने के साथ ही उनको निर्णायक होने का मौका मिला है। मनरेगा में उनकी सक्रिय श्रम सहभागिता से आर्थिक स्वावलंबन भी उनमें जगा है तथा वो इस इकाई के स्तर पर दिखाई दे रहा है।⁷

fu"d"kl

देश की ग्रामीण क्षेत्र की जरूरतों को पूरा करने हेतु ग्रामीण रोजगार गारन्टी का कार्यक्रम अपनाया गया। किन्तु इन सभी प्रयत्नों में एक मूलभूत तथ्य ध्यान रखना आवश्यक है कि योजना की शुरुआत करने के साथ उसको कारगर तरीके से लागू भी किया जाना जरूरी है। डॉ० अम्बेडकर ने कहा था कि संविधान चाहे कितना ही अच्छा हो, कोई योजना

कितनी भी अच्छी हो, उसका खराब रूप में आना तय है अगर उसे संचालित करने वाले लोग खराब साबित हों। अतः यह अत्यावश्यक है कि योजना के संचालन कर्ता आम जनता के प्रति जिम्मेदार एवं संवेदनशील हो।⁸ आज मनरेगा महिलाओं, दलितों और मजदूरों के लिए तीन बड़े शब्दों को साकार करता नजर आता है— अधिकार, सम्मान और सामाजिक न्याय। आज ग्रामीण भारत में कितने ही उपेक्षित वर्गों के लिए मनरेगा बदलाव का रास्ता बन चुका है।

I UnHkz %

1. दैनिक जागरण, जबलपुर, 3 फरवरी, 2010, पृ0 16
2. चौहान, ज्ञानेन्द्र सिंह, 2007; सम्पूर्ण ग्रामीण रोजगार योजना एवं रोजगार गारन्टी योजना का तुलनात्मक अध्ययन, लघु शोध, ए0पी.एस0यू0, रीवा, म0प्र0
3. क्रिसिल रिसर्च, इन साइड अर्थव्यवस्था एवं ग्रामीण उपभोग, अगस्त, 2012
4. मनरेगा, प्रतिवेदन, ग्रामीण विकास मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, 2 फरवरी, 2013, पृ0 14
5. राष्ट्रीय सहारा, इलाहाबाद, 13 अप्रैल, 2013, पृ0 13
6. समीक्षा: एन एंपोलॉजी आफ रिसर्च स्टडीज आन एमजीनरेगा, अध्याय—5, पृ0 18
7. www.bbc.co.uk/hindi/india
8. दैनिक भास्कर, जबलपुर, 30 जून, 2012

uDI yoknh vkanksyu , oa ekuo I gj {kk %
I kekftd] vkfFkd , oa jktuhfrd U; k;
ds I nHkZ ea
MKD I gj thr fl g HknkFj; k*

मानव की उत्पत्ति के साथ ही उसकी सुरक्षा संबंधित समस्याएँ उत्पन्न होने लगी थीं। सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय मानव समाज के विकास के लिए एक महत्वपूर्ण आवश्यकता है जिनके पूर्ण न होने पर उनमें तीव्र असंतोष व निराश उत्पन्न होती है। इससे समाज में अराजकता, हिंसा, आतंक एवं नक्सलवादी जैसी समस्याओं का जन्म होता है और जिसे असामाजिक तत्व समाज को हिंसा व आतंकवाद में बदल देते हैं। “नक्सलवाद” को समझने के लिये हमें अतीत के पन्नों को पलटना होगा।”

नक्सलबाड़ी (दार्जिलिंग) अत्यंत पिछड़ा, बुनियादी सुविधाओं से वंचित अशिक्षा, गरीबी और बीमारी से ग्रसित गाँव है। यहाँ सन् 1967 में सामंतवादी व्यवस्था अपने चरम पर थी। इसी कारण से समाज दो वर्गों भूस्वामी और खेतिहर किसान में विभाजित हो गया था। खेतिहर किसान और मजदूर यहां भूस्वामियों के अमानवीय अत्याचार एवं शोषण के शिकार थे। इसी घटनाक्रम में अदालत के एक आदेश से खेतिहर को मिली जमीन से भूस्वामियों के हरकारों ने बेदखल कर दिया। तब वामपंथी नेता चारु मजूमदार ने माओ की सशस्त्र क्रांति से प्रेरणा लेकर नक्सलबाड़ी में एक आंदोलन भूस्वामियों के विरुद्ध शुरू किया। यह आंदोलन धीरे-धीरे बहुत ही कम समय में लोकप्रिय हो गया। इसने पश्चिम बंगाल, बिहार, महाराष्ट्र और आंध्रप्रदेश के बड़े क्षेत्र को प्रभावित किया और छुटपुट देश के अन्य

*सहायक प्राध्यापक, राजनीति विज्ञान विभाग, शास0 महाविद्यालय, बालाजी, मिहोना, भिण्ड, म0प्र0

भागों को भी। 1970-71 के बीच नक्सलवादी हिंसा अपने चरम पर थी। इस अवधि में लगभग 4000 वारदातें हुईं। अधिकांश घटनाएँ पश्चिम बंगाल (3,500) और बिहार (220) तथा आंध्रप्रदेश में (70) हुईं।

वास्तव में यह हिंसक आंदोलन सामंतवादी व्यवस्था के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया भी कह सकते हैं। नक्सलवाद की समस्या को बढ़ाने में वामपंथी नेताओं के साथ-साथ मीडिया एवं बुद्धिजीवी वर्ग ने विशेष भूमिका का निर्वाह किया है।

नक्सलवाद के पक्ष में अनेकों लेख लिखे जा चुके हैं जो युवा वर्ग को भ्रमित करने का कार्य कर रहे हैं। इस बात की पुष्टि के लिये हम प्रख्यात साहित्यकार महाश्वेता देवी के कथन को लेते हैं— “नक्सली आंदोलन की प्रासंगिकता आज भी उतनी ही है जितनी सत्तर के दशक में थी। सत्तर के दशक में उस आंदोलन को अपनी आँखों से देखा था और आज भी देख रहा हूँ। जो आंदोलन कर रहे हैं, वे न सत्ता मांगते हैं, न वोट। नक्सली विचार के लिये लड़ रहे हैं। गरीबों को शोषण से मुक्ति दिलाने के लिये लड़ रहे हैं। नक्सलियों ने आरामदेह जिंदगी को त्याग कर आत्मत्याग का रास्ता चुना। उनके निःस्वार्थ आत्मत्याग और लोभहीनता में मुझे आदर्श नजर आता है। सत्तर के दशक में मैंने देखा कि उनमें गजब का साहस था वे जानते थे कि देखे जाते ही पुलिस या विरोधी पार्टी द्वारा मार डाले जायेंगे पर वे डरते नहीं थे। जिन मुद्दों पर नक्सल आंदोलन शुरू हुआ था वे मुद्दे यानी जमीन के अधिकार, भूख का मर्म का दर्द आज भी जिंदा है, क्योंकि असंतोष व विक्षोभ के कारण अब भी मौजूद है। आज ही क्यों, भविष्य में भी जब तक मनुष्य भूखा, पीड़ित, शोषित और न्यूनतम अधिकारों से वंचित रहेगा, तब तक नक्सली आंदोलन जैसे प्रतिरोध के संघर्ष भी चलते रहेंगे।

महाश्वेता देवी के कथन— “नक्सली विचार के लिये लड़ रहे होते तो वह हिंसात्मक कृत्य नहीं करते तथा अहिंसा को अपनाते। महाश्वेता देवी के कथन— “गरीबों को शोषण से मुक्ति दिलाने के लिये लड़ रहे हैं।” यदि ऐसा होता तो वे गरीब आदिवासियों को ही क्यों मारते हैं ? उदाहरण के लिये” 16 जुलाई 2006 की रात 12.30 बजे हथियार बन्द नक्सलियों ने दक्षिण-बस्तर के सुदूरवर्ती कोटा विकासखण्ड में एर्राबोर राहत शिविर

पर हमला किया। इसमें 33 आदिवासी मारे गये और 21 घायल हुये। निःसंदेह नक्सली संगठन के जन्म में पीछे कोई मूल कारण अथवा उत्प्रेरक कारक अवश्य होता है। हिंसा पर आमादा नक्सलवादियों ने सामाजिक न्याय की संकल्पना की धज्जियां उड़ा दी हैं। मेरे विचार से महाश्वेता देवी का लेख नक्सली आंदोलन की सही व्याख्या नहीं करता है क्योंकि नक्सली संगठन किसी न किसी क्षेत्र में अपनी सरकार चलाते हैं। ये अपनी अदालतें लगाते हैं जहां गाँव के प्रधान अन्य वर्ग के शत्रुओं तथा जो नक्सली सुधारकर शांति अभियान के सदस्य बन जाते हैं। उन्हें पुलिस के मुखबिर घोषित करके मौत के घाट उतार देते हैं। ये संगठन पूंजीपतियों और ठेकेदारों से जबरन वसूली करते हैं तथा धन प्राप्त न होने पर मारकर भय उत्पन्न करते हैं। “ये अमानवीय कृत्य करते हैं। एक वर्ष की बच्ची ज्योति को आग में झोंक देना व तीन वर्षीय मासूम जूली को चाकू से गोद डाला।

अतः नक्सलवाद मानव प्राणियों के लिये दुख एवं पीड़ा लाता है। इस प्रकार नक्सलवादियों के कृत्यों को किसी भी प्रकार से न्यायोचित नहीं ठहराया जा सकता है।

uDI yh fgd k ds dkj .k %&

(1) तीव्र असंतोष और राजनीतिक निराशा (2)योग्य नेतृत्व के अभाव के कारण (3) जनता का यह मत बन गया है कि सरकार केवल दबाव की भाषा ही समझती है (4) अशिक्षा, बेरोजगारी, निर्धनता (5) प्रशासनिक व्यवस्था की त्रुटियां (6) राजनैतिक समर्थन

पिछले कई सालों से कामरेडो द्वारा आदिवासियों को पुलिस एवं प्रशासन के विरुद्ध भड़काया जाना भी नक्सली समस्या का प्रमुख कारण है।

uDI yokfn; ka }kjk Hk; mRi Uu djus ds rjhds %&

(1) नक्सलवादियों द्वारा संचार सेवा को नष्ट करना । (2) अपहरण करना और बंधक बनाना । (3) सामूहिक नरसंहार । (4) आत्मघाती हमले । (5) जातिगत संघर्षों को बढ़वा देना, आदि हैं। इन तरीकों को अपनाकर नक्सली भय का वातावरण उत्पन्न करते हैं।

uDI yh vknsyu dk orëku Lo: lk %

नक्सली आंदोलन देश की आंतरिक सुरक्षा के लिये चुनौती बन चुकी है। नक्सलियों द्वारा पिछले तीन वर्षों में 129 राजनेताओं को मार गिराया है।

नेपाल में माओवादियों की मिली सफलता से भी नक्सलियों का मनोबल भारत में बढ़ा है। जिसके परिणामस्वरूप जहां 1970 में नक्सलवाद सिर्फ चार जिले में था। वहीं आज इसका प्रभाव 13 राज्यों के लगभग 160 जिलों में फैल चुका है। यदि कश्मीरी और उत्तर पूर्व के सभी उग्रवादी गतिविधियों को एक साथ मिलकर देखें तो उनके प्रभाव क्षेत्र में देश का कुल 11.09 प्रतिशत और 4.51 प्रतिशत जनसंख्या ही आती है। जबकि नक्सली प्रभाव देश का लगभग 40 प्रतिशत क्षेत्र और 35 प्रतिशत जनसंख्या अब तक आ चुकी है। प्रधानमंत्री डॉ. मनमोहन सिंह ने नक्सली समस्या को आंतरिक सुरक्षा के सबसे बड़े खतरे के रूप में देखा है।

Lkqko , oa fu"d"kl %

जिन कारणों ने भारत में नक्सलवाद आंदोलन को बढ़ावा दिया था। दुर्भाग्यवश वे सभी कारण आज भी मौजूद हैं। नक्सलियों को किसी भी क्षेत्र से समाप्त करने या इस समस्या को सीमित करने के उपाय निम्नलिखित हो सकते हैं।

1/2 विकास के तात्कालिक तथा दीर्घकालिक लक्ष्य प्राथमिकता तय करनी चाहिये। चेतना की लहर के द्वारा इस समस्या को समूल नष्ट किया जा सकता है।

2/2 लोकतंत्र की सभी संस्थाओं में ईमानदारी पूर्ण चुनाव हों तथा चुने हुये प्रतिनिधियों द्वारा ईमानदारी से दायित्वों का निर्वहन होना चाहिए। वर्तमान समय में सुरक्षा बलों के ऊपर बढ़ते हुये दबाव से भी नक्सलवाद को पनपने में मदद मिल रही है।

3/2 सुरक्षा बल का कार्य सशस्त्र नक्सलियों के साथ 10 प्रतिशत नक्सली समर्थक जनता पर दबाव होना चाहिये। जिससे नक्सली विचारधारा पर अंकुश लगाया जा सके। साथ ही 80 प्रतिशत शांत जनता तथा 10 प्रतिशत सरकार समर्थक जनता को सुरक्षा प्रदान करें। जिससे उनमें नक्सलियों के प्रति भय कम हो।

बढ़ते नक्सली दबाव को कम करने के लिये केन्द्रीय बलों (B.S.F., C.I.S.F., I.T.P.B., C.R.P.F. etc.) की सहायता ले जानी चाहिए। केन्द्रीय बल राज्य के पुलिस बलों की अपेक्षा अधिक प्रशिक्षित, अनुभवी तथा अपने कार्य में निपुण होते हैं। उदाहरण नागा बटालियन ने बस्तर में नक्सलियों में खौफ भर दिया है। जिससे वह नक्सली गतिविधियों में कमी आई।

मेरे विचार से नक्सली बिना किसी भय के विवेकहीन बल का प्रयोग करते हैं तो सुरक्षा बलों को उनके विरुद्ध कठोर कार्यवाही करनी चाहिए। जिससे जनता का विश्वास सरकार के प्रति सकारात्मक होगा।”

(4) नक्सलवाद का उद्गम सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक कारणों से हुआ। अतः इन कारणों को दूर करके ही इस समस्या का समाधान हो सकता है।

(5) नक्सलवादियों की सामाजिक विघटन प्रवृत्ति क्या है तथा उसकी वास्तविक प्रकृति क्या है? इस जानकारी के पश्चात ही उन पर नियंत्रण किया जा सकता है।

यदि हम नक्सलवादियों का हृदय परिवर्तन करना चाहते हैं तो जब तक हम नक्सलियों के अन्तर्निहित मनोविज्ञान को अच्छी तरह न समझ लें अथवा उन कारणों को दूर करें जो नक्सलवाद को बढ़ावा देते हैं।

मेरे विचार से देश के अनेक भागों में जन जागृति आंदोलन से नक्सलवाद के प्रचार प्रसार में कमी आई।

इस शांतिमय आंदोलन को छत्तीसगढ़ में गरीब आदिवासियों द्वारा चलाया जा रहा है। नक्सलियों को अपने दूरगामी लक्ष्य प्राप्ति में यह आंदोलन अड़ंगा नजर आ रहा है। इसलिये जून 2006 में इसकी पहली वर्षगांठ पर निर्दोष आदिवासियों पर हमले तेज कर दिए गये हैं। जिससे सलवा-जुड़ूम रोका जा सके। केन्द्र सरकार को समर्थन दे रहे दल प्रधानमंत्री श्री मनमोहन सिंह की सरकार पर दबाव बना रहे हैं कि छत्तीसगढ़ में नक्सल समस्या से निबटने में जो मदद दी जा रही है उसे रोका जाये। क्योंकि सलवा जुड़ूम से प्रेरित होकर आंध्रप्रदेश के आदिवासियों

ने नक्सलियों के खिलाफ "अम्मा वडिकी पल्ले डरिकी" आंदोलन छेड़ दिया।

इस आंदोलन के कारण ही नक्सलियों का जनाधार (गरीब, अतिपिछड़ा, आदिवासी) घट रहा है। सलवा जुद्ध अभियान के कारण छत्तीसगढ़ के परिवर्तन प्रारंभ हुआ है। परिणामस्वरूप 79 नक्सली आदिवासियों ने 3 जनवरी 2007 को छत्तीसगढ़ पुलिस मुख्यालय में आत्मसमर्पण किया।

डॉ. रामनाथ सिंह "आदिवासियों को यह एहसास होना महत्वपूर्ण है कि हिंसा से उनके समुदाय को कोई फायदा नहीं होगा। पुलिस ने इन लोगों की राय बदलने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।" तथा राज्य के स्वर्गीय पुलिस महानिदेशक श्री ओ.पी. राठौड़ का मानना था कि "बस्तर में नक्सलियों की बंदूकें काम नहीं करेंगी 70 नक्सलियों का आत्मसमर्पण इस बात का संकेत है कि आदिवासियों को हिंसा पसंद नहीं है।

अतः सलवा जुद्ध जैसे अभियान की सहायता से ही नक्सलवाद जैसी समस्याओं का समाधान किया जा सकता है। जो अहिंसा के साथ-साथ नक्सलियों को हृदय परिवर्तित कर आत्मसमर्पण के लिए प्रेरित करता है।

I UnHkz %

1. जैम्स एवरी, 1982; "ह्यूमन राइट्स" द एच.डब्लू. विल्सन, कं., न्यूयार्क
2. फड़िया. डॉ. बी.एल.; अंतराष्ट्रीय राजनीति, पृ0 315
3. एस. डॉ. अखिलेश; पुलिस एवं समाज
4. पाण्डेय. अनुराग, चाणक्य, सिविल सर्विसेज टुडे, दिसम्बर 2003, पृ0 35
5. मिश्र, वीरेन्द्र; इण्डिया टुडे, 2 अगस्त 2006
6. वर्मा. मनोज तथा जी. मंजू साईनाथ; इण्डिया टुडे, 2 अगस्त 2006
7. साईनाथ, जी. मंजू; इण्डिया, टुडे, 17 जनवरी 2007

euqefr ea of. ktr n. M dk egRo
, oa mnfnS ;
MKD iz kkar d' ; i*

समाज का अस्तित्व कायम रखने के लिए सामाजिक संगठन और सुव्यवस्था अति आवश्यक है प्रत्येक समाज को संगठित रखने के लिए मानव एवं राज्य निर्मित विधि विधान एवं नियम-उपनियम होते हैं। व्यक्ति द्वारा इन नियमों को मानना एवं पालन करना आवश्यक एवं अपेक्षित रहा है। सामाजिक नियमों एवं राज्य विधि का पालन न करना अपराध है।¹ एक तरफ तो समाज में समर्पित आचार-नियम जो कि अस्तित्व के संघर्ष में समाज को जीवित रखने के लिए आवश्यक है तथा दूसरी तरफ व्यक्ति विशेष की अपनी स्वार्थ पूर्ति की आदत के बीच का विरोधाभास ही अपराध का जनक है अथवा कारण है।² अपराध हमेशा से ही समाज में ही उपस्थित रहे हैं। आदिकाल से वर्तमान सभ्य समाज तक में अपराध समाज में अव्यवस्था उत्पन्न करते हैं तथा मनुष्य सुख पूर्वक नहीं रह सकते। समाज में अपराध न हो सके इसलिए दण्ड की व्यवस्था की गई है। मनुस्मृति के अनुसार अपराध करने के प्रति अपराधी को भयभीत करने के लिए अवरोधक दण्ड होना चाहिये। इस दण्ड से दण्डित होकर वह शिक्षा ग्रहण करता है अन्य व्यक्ति भी उसको देखकर अपराध न करने की शिक्षा ग्रहण करते हैं।³ प्राचीन भारतीय न्याय व्यवस्था में अनेक तथ्य निर्णायक तत्त्वों की भूमिका निभाते थे। विवादों के निर्णय में श्रुति, स्मृति, धर्मशास्त्र, परम्परायें इत्यादि प्रथम प्रमाण माने जाते थे। कोई भी निर्णय इनके विरुद्ध नहीं हो सकता था। इनके अंतर्गत मुख्य रूप से श्रुति, सूत्रग्रंथ और स्मृतियों को समाविष्ट किया जाता है। इनके आधार पर लिखे गये ग्रन्थ भी धर्मशास्त्र ही है। श्रुति तो सबसे अधिक प्रमाणिक ग्रन्थ थी। वेदों को सभी धर्मों का मूल कहा गया था। परन्तु व्यवहारिक रूप से सूत्र और स्मृति ग्रन्थ ही न्याय

*असिस्टेंट प्रोफेसर, डी0ए0वी0पी0जी0 कॉलेज, वाराणसी, उ0प्र0

व्यवस्था के प्रमुख आधार रहे। इन ग्रन्थों ने वेदों को ही आधार मानकर विधियों का प्रतिपादन किया था। सूत्र ग्रन्थों की रचना बहुत पहले हो गयी थी। इनका समावेश वैदिक साहित्य में किया जाता है; और ये महाभारत काल से भी पहले लिखे जा चुके थे। स्मृतियों की रचना ईसा से भी कई शताब्दियों पूर्व से आरंभ होकर दसवीं शती ई० तक चलती रही। इनकी संख्या काफी बड़ी है। न्याय व्यवस्था का प्रायः सभी राजशास्त्रकारों ने धर्मशास्त्रों को प्रमाण माना है। अर्थशास्त्र के साथ धर्मशास्त्र की तुलना करते हुए शुक्र ने कहा है कि – अर्थशास्त्र भी धर्मशास्त्र का विरोधी नहीं होना चाहिए।

इसी प्रकार भारत में दण्ड को राज्य का प्रधान साधन माना गया है। शान्ति पर्व के अनुसार धर्म और अर्थ की रक्षा दण्ड द्वारा ही होती है। राजा का कर्तव्य, इस धर्म रूपी दण्ड के अनुसार प्रजा का शासन करना है।⁴ प्राचीन चिन्तकों ने माना है कि राज्य की उत्पत्ति सम्पत्ति, परिवार तथा वर्ण रक्षा के लिए हुई है तथा इनकी रक्षा के लिए राज्य को दण्ड का अधिकार दिया गया है।⁵ प्राचीन भारत की दण्ड नीति के विषय में मनुस्मृति में महत्वपूर्ण सूचनाएँ मिलती हैं। मनुस्मृति विधि का महत्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है। इसमें दण्ड की उत्पत्ति, कारण, उद्देश्य, विभिन्न अपराधों के लिए दण्ड आदि पर विस्तृत रूप से जानकारी मिलती है।

मनु राज्य की तरह दण्ड की उत्पत्ति भी दैवी मानता है। मनु के अनुसार सतयुग में अपराध नहीं थे। अतः दण्ड की व्यवस्था भी नहीं थी। बाद में रज और तप के विकास से मोह-लोभ, ईर्ष्या, घृणा, द्वेष, खेद आदि की उत्पत्ति हुई। स्वार्थवश परस्पर संघर्ष उत्पन्न हुआ तथा मत्स्य न्याय आया। इसमें धर्म, सम्पत्ति तथा जीवन संकट ग्रस्त हो गया। इनकी स्थापना तथा रक्षा के लिए 'ब्रह्म तेजोमय' दण्ड की उत्पत्ति हुई।⁶ अतः दण्ड को दैवी गुणों से सम्पन्न माना है और वह व्यक्ति को पवित्र करता है। इस रूप में दण्ड निजी नैतिक मूल्य रखता है।⁷ दण्ड पाशविक प्रतिकार की शक्ति को सन्तुष्ट नहीं करता, न भावी अपराधियों को चुनौती देता है और न ही अपराधी को मात्र ठीक ही करता है, अपितु स्वयं अपराधी के कल्याण के लिए भी वह आवश्यक है। समग्र विश्व में पीड़ित भी अपना अस्तित्व सुरक्षित और उपयोगिता प्राप्त कर सके, इस प्रकार की स्थिति प्रस्तुत करना दण्ड का उद्देश्य है।⁸

मनु ने दण्ड के महत्व और उद्देश्य को बताते हुए कहता है कि वह (दण्ड) ही राजा है, वही पुरुष है और वही नेता है तथा शासिता और चारों आश्रमों के कर्म का प्रतिभूत है।⁹ दण्ड सम्पूर्ण प्रजा का शासन करता है। दण्ड ही रक्षा करता है, सब के सोते दण्ड ही जागता है। उसी के डर से चोर चोरी नहीं करते, विद्वान दण्ड को धर्म मानते हैं।¹⁰ दण्ड के न होने पर क्या स्थिति होगी, इस पर मनु कहता है कि राजा यदि अपराधियों को दण्ड न देवे तो शूल पर मछली के समान अति बलवान लोग निर्बलों को भून डाले। कौवा पुरोडास भक्षण कर जावे और कुत्ता हवि का भक्षण कर ले और कोई किसी का स्वामी न हो सके तथा ऊँच-नीच में और नीच-ऊँचता में प्रवृत्त हो जावे।¹¹ दण्ड के बिना सम्पूर्ण वर्ण दुष्टाचरण में प्रवृत्त हो जायेंगे और सब पुल टूट जायेंगे और सम्पूर्ण लोगों में उपद्रव हो जाएगा।¹² मनुष्य का मानना है कि सम्पूर्ण लोग दण्ड से नियमित किए हुए ही सन्मार्ग पर रहते हैं। क्योंकि स्वभाव से सन्मार्ग पर रहने वाला शुची मनुष्य दुर्लभ है। सम्पूर्ण जगत दण्ड के भय से ही भोग कर सकता है।¹³ दण्ड के भय सम्पूर्ण स्थावर और जंगम भोग को प्राप्त होते हैं और अपने धर्म से न ही विचलते हैं। देव, दानव, गन्धर्व, राक्षस, पक्षी, सर्प ये भी दण्ड के ही दबे हुए भोग को पा सकते हैं।¹⁴

इस प्रकार धर्म संस्थापना और प्राणी मात्र के कल्याण के लिए 'ब्रह्मतेजोमय' दण्ड की ब्रह्म ने सृष्टि की। वह ब्रह्म का पुत्र धर्म स्वरूप ही है।¹⁵ वह श्याम वर्ण और लोहित आँखों वाला पाप का नाशक है। इसके चार दाँत, चार भुजाएँ हैं। उस उग्र रूप से भय उत्पन्न हो जाता है। इसके सदुपयोग से प्रजा सुखी रहती है।¹⁶ दण्ड ही धर्म, अर्थ तथा काम ही रक्षा करता है। इसीलिए वही त्रिवर्ग है।¹⁷ दण्ड देने का अधिकारी कौन है, कैसा है तथा उसे कैसा होना चाहिए इस पर मनु कहते हैं कि दण्ड का प्रयोक्ता सत्यवादिता, समीक्षा करने वाला प्रजा, धर्म, अर्थ और काम के तत्वों का ज्ञाता होना चाहिए। इस प्रकार के प्रयोक्ता से त्रिवर्ग की प्राप्ति होती है। अन्यथा दण्ड प्रयोक्ता को सर्वनाश कर देता है। महातेजस्वी दुर्धर, दण्ड से राजधर्म च्युत राजा सकुटुम्ब नष्ट हो जाता है।¹⁸ इस आधार पर कहा जा सकता है कि राजा से शक्तिशाली दण्ड था और राज्य की शक्ति दण्ड में ही निहित थी। राजा दण्ड के द्वारा व्यवस्था को बनाकर रखता था।¹⁹ मनु के अनुसार, मंत्री आदि से रहित, मूर्ख, लोभी, निबुद्धि

और विषयों में आसक्त राजा से दण्ड न्यायपूर्वक नहीं चल सकता। शास्त्र के अनुसार चलने वाले अच्छे सहायकों वाले और बुद्धिमान राजा द्वारा सही दण्ड चलाया जा सकता है।²⁰ दण्ड राज्य की महत्वपूर्ण शक्ति था और राजा दण्ड के द्वारा राज्य करता था। इसीलिए राजा को दण्डाधारी भी कहा गया है।²¹ राजा दण्ड से ऊपर नहीं था। इसीलिए मनुस्मृति में यह व्यवस्था की गई कि जिस अपराध के लिए साधरण मनुष्य को एक कर्षापण का दण्ड दिया जाये। उसी के लिए राजा को एक सहस्र कर्षापण का दण्ड दिया जाना चाहिये।²² इसी कारण राज्यभिषेक के अवसर पर राजा की पीठ पर तीन बार प्रहार किया जाता था ताकि वह दण्ड के अधीन होने को बाध्य रहे।²³

इस प्रकार मनु द्वारा प्रस्तुत दण्ड की शक्ति, व्यक्ति, समाज एवं सभी से ऊपर थी। वह धर्म का भी संरक्षक था, किन्तु वह विधि से परे नहीं था। दण्ड का प्रयोग करने के लिए विधि की प्रभुता तथा आत्म नियंत्रण दोनों का होना आवश्यक था। मनु दण्ड को सामाजिक स्थिति के साथ सम्बद्ध करते थे। दण्ड के वर्णों एवं विधि आदि की रक्षा सम्भव थी। राजा समाज की यथास्थिति में हस्तक्षेप करने पर दण्ड का भागी हो जाता था। इस प्रकार दण्ड सामाजिक स्थिति, सम्पत्ति अधिकार तथा परम्परा का पालक था। दण्ड उत्पीड़क एवं प्रतारणा से युक्त नहीं था। वह विधि की सर्वोच्चता का साधन था। अतः उसका प्रयोग राजा स्वेच्छा से नहीं, आधार और उद्देश्य से ही करता था।²⁴ दण्ड का आधार अनुशासन था। अनुशासन का अर्थ है विनय। दण्ड का उद्देश्य धर्म नियंत्रण था।²⁵ राजा को दण्ड प्रयोग में विभिन्न पक्षों का विश्लेषण करना पड़ता था। वह स्वेच्छा से इस कार्य का प्रयोग नहीं कर सकता था। राज्य के अन्य कर्मचारियों और सामाजिक प्रतिनिधियों के परामर्श से वह दण्ड का प्रयोग करता था।²⁶

इस प्रकार भय पर आधारित दण्ड का दमन का रूप नहीं था। वह मानसिक दुर्बलता के किसी भी पक्ष, महत्वकांक्षा, लोभ, ईर्ष्या आदि का नियंत्रण करता था। इससे राज्य के किसी अधिकार का निर्माण नहीं होता था। बल्कि दण्ड के माध्यम से अधिकार को मूर्त रूप देता और उसे वास्तविक बनाता था। वह शक्ति का प्रयोग सामाजिक हितों के लिए करता था। इसमें दमन भी अनुशासन एवं आज्ञापालन के लिए साधन थे।²⁷ इस प्रकार यह स्पष्ट होता कि दण्ड राजा की शक्ति है तो धर्म उसका उद्देश्य।

दण्ड का उद्देश्य व्यवस्था को बनाये रखना है और लोग नियमों का पालन करते हैं, दूसरों के अधिकारों का हनन नहीं करते। दण्ड दुष्ट लोगों को अपराध करने से रोकता है, ताकि सच्चरित्र सज्जन मनुष्य सुखपूर्वक रह सकें। यद्यपि दण्ड का उद्देश्य क्षति पूर्ति नहीं था बल्कि अपराधी को दण्ड देना और अपराधी की निवृत्ति था। इसमें राज्य पक्ष न बनकर न्याय के लिए वातावरण प्रस्तुत करता था। अपराधी को यदि वह क्षमा करना चाहे तो वह अपराध से मुक्त नहीं हो सकता क्योंकि अपराध का सम्बन्ध समाज और राज्य से है, व्यक्ति विशेष की मनोवृत्ति से नहीं।¹⁸

प्रस्तुत अध्ययन के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुस्मृति ने दण्ड को महत्वपूर्ण माना है दण्ड के भय से दुष्टजन अपराध न करें तथा सच्चरित मनुष्य सुखपूर्वक रह सकें। वर्तमान संदर्भ में यदि देखें तो यह आज भी प्रासंगिक है। समाज में आपराधिक प्रवृत्ति के लोग ही अव्यवस्था उत्पन्न करते हैं। उन्हें नियंत्रित करने के लिए ही दण्ड विधान की आवश्यकता होती है। दण्ड ऐसे वातावरण का निर्माण करता है। जिसमें व्यक्ति नियमों का पालन करें ताकि व्यवस्था को बनाये रखें। कानून तथा दण्ड प्रक्रिया में ढीलापन आते ही आपराधिक तत्व सक्रिय हो जाते हैं तथा अव्यवस्था उत्पन्न करते हैं।

I UnHkZ %

1. R.K. Chaudhary, 1953; Studies in Ancient Indian Law and Justice, Patna, p.30
2. Ibid., p.30
3. मनुस्मृति, कुल्लू भट्ट, टीका सहित, चौखम्भा ग्रन्थ माला, वाराणसी, 8/334
4. महाभारत, गीता प्रेस, गोरखपुर शान्ति पर्व, 15/2-4, 12, 14/13, 6/3-7, 77/6-11
5. रामशरण शर्मा, 1992; प्राचीन भारत में राजनैतिक विचार, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ.70
6. मनुस्मृति 7/14
7. प्रसाद, ईश्वरी, 1990; प्राचीन भारतीय संस्कृति कला, राजनीति, धर्म, दर्शन, इलाहाबाद, पृ0 75

8. Prof. Chain, 1949; Sense of Injustice, An Anthropomorphic View of Law N.U.U. p.7, 27
9. मनुस्मृति 7/17
10. मनुस्मृति 7/18
11. मनुस्मृति 7/20, 21
12. मनुस्मृति 7/24
13. मनुस्मृति 7/22
14. मनुस्मृति 7/15, 23
15. मनुस्मृति 7/14
16. मनुस्मृति 7/25
17. महाभारत शान्ति पर्व, 1/22
18. मनुस्मृति 8/26, 27, 28
19. डॉ० ईश्वरी प्रसाद, पूर्वाद्धत, पृ० 575
20. मनुस्मृति 7/30, 31
21. वायु पुराण 1/58
22. मनुस्मृति 8/336
23. शतपथ ब्राह्मण 2/30, 31
24. मनुस्मृति 7/30
25. J.S. Mackenzie, Outlines of Social Philosophy, p. 133
26. मनुस्मृति 7/16, 19, 31
27. T.H. Green, Principles of Political Obligation, p. 140
28. R.K. Chaudhary, 1953; Studies in Ancient Indian Law and Justice, Patna, p.30

डॉ० सम्पूर्णानन्द जी निर्भिक विचारक और प्राचीन चिन्तकों की परिपाटी के दार्शनिक थे। उनके विचार और भावनायें शाश्वत सत्य पर आधारित हैं यदि उनके विचारों के अनुरूप समाजवादी व्यवस्था का स्वरूप गढ़ा गया होता, तो भारतीय जनता की प्रगति और उन्नयन का वास्तविक स्वरूप मुखर हो जाता। समाजवाद के प्रारम्भ में ही श्री सम्पूर्णानन्द जी ने वह शाश्वत प्रश्न उठाया जो महात्मा बुद्ध और महात्मा गांधी जी के मस्तिष्क का मंथन कर रहा था – “संसार में इतने दुःख क्यों हैं? पदार्थ की अपार राशि प्रतिवर्ष उत्पन्न होती है, मिलो से वस्त्रों के पहाड़ निकलते हैं लाखों वर्ग कोश बसने योग्य भूमि पड़ी है, एक देश में उत्पन्न वस्तु दूसरे देश में पहुंच सकती है, घातक रोगों पर चिकित्साशास्त्र विजय प्राप्त करता जा रहा है फिर भी इतने नंगे, भूखे, रोगी, निराश्रय क्यों हैं? सुख के साधन थोड़े से व्यक्तियों को ही क्यों लभ्य हैं? राष्ट्रों की स्वतन्त्रता का क्यों अपहरण किया जाता है? युद्ध क्यों होते हैं? मनुष्य जल, वायु और विद्युत को अपने वश में कर सकता है। अरबों कोश की निहारिकाओं को दृष्टिगत कर सकता है। अगोचर परमाणुओं की गतिविधि की गणना कर सकता है, पर उसकी वृद्धि जीवन को संगठित क्यों नहीं कर सकती।”

डॉ० सम्पूर्णानन्द जी निर्भिक विचारक और प्राचीन चिन्तकों की परिपाटी के दार्शनिक थे। उनके विचार और भावनायें शाश्वत सत्य पर आधारित हैं यदि उनके विचारों के अनुरूप समाजवादी व्यवस्था का स्वरूप गढ़ा गया होता, तो भारतीय जनता की प्रगति और उन्नयन का वास्तविक स्वरूप मुखर हो जाता। समाजवाद के प्रारम्भ में ही श्री सम्पूर्णानन्द जी ने वह शाश्वत प्रश्न उठाया जो महात्मा बुद्ध और महात्मा गांधी जी के मस्तिष्क का मंथन कर रहा था – “संसार में इतने दुःख क्यों हैं? पदार्थ की अपार राशि प्रतिवर्ष उत्पन्न होती है, मिलो से वस्त्रों के पहाड़ निकलते हैं लाखों वर्ग कोश बसने योग्य भूमि पड़ी है, एक देश में उत्पन्न वस्तु दूसरे देश में पहुंच सकती है, घातक रोगों पर चिकित्साशास्त्र विजय प्राप्त करता जा रहा है फिर भी इतने नंगे, भूखे, रोगी, निराश्रय क्यों हैं? सुख के साधन थोड़े से व्यक्तियों को ही क्यों लभ्य हैं? राष्ट्रों की स्वतन्त्रता का क्यों अपहरण किया जाता है? युद्ध क्यों होते हैं? मनुष्य जल, वायु और विद्युत को अपने वश में कर सकता है। अरबों कोश की निहारिकाओं को दृष्टिगत कर सकता है। अगोचर परमाणुओं की गतिविधि की गणना कर सकता है, पर उसकी वृद्धि जीवन को संगठित क्यों नहीं कर सकती।”

यह इस बात का परिचायक है कि उनके हृदय में निर्धन व्यक्ति के प्रति कितनी ममता थी। उनकी समस्या उनके विचारों का मंथन करती थी। अतएव वह मूलतः एक समाजवादी थे, किन्तु उनका समाजवाद मार्क्स का समाजवाद नहीं था जिसमें धर्म का स्थान नहीं। डॉ० सम्पूर्णानन्द जी का समाजवाद धर्म पर आधारित था। धर्म पण्डों और पुजारियों का नहीं बल्कि धर्म, गीता का धर्म, स्वधर्म है। जिसमें नैतिकता राष्ट्र की आधारशिला है वह भारतीय संस्कृति एवं धर्म के महान उपासक थे। अतएव

*असिस्टेन्ट प्रोफेसर, बी०एड० विभाग, लाल बहादुर शास्त्री पी०जी० कालेज, मुगलसराय, चन्दौली, उ०प्र०

वह सही मायने में समन्वयवादी थे। उनका समाजवाद मानवतावादी है। मानव के प्रति उनके मन में टीस थी और वे केवल मानव की अच्छाई में विश्वास करते थे।

लोकोपयोग शासन की कल्पना में निरत श्री सम्पूर्णानन्द जी समाजवादी व्यवस्था के अतिरिक्त कोई और व्यवस्था नहीं सोच पाते हैं। यद्यपि उन्होंने अपने समाजवाद की व्याख्या स्वयं की है। समाजवाद के सम्बन्ध में उन्होंने जो कुछ भी लिखा है वह उनके कार्यों और विचारों से प्रकट होता है। उनकी कल्पना का समाज आर्थिक कोरा समृद्धि का समाज नहीं, बल्कि उनकी समाजवादी व्यवस्था में पनपने वाला समाज आशावादिता, चारित्रिक संगठन और आध्यात्मिक उन्नति के लिए अग्रसर होता हुआ समाज था। उनका ऐसा विश्वास था कि जो समाज केवल आर्थिक आधार पर खड़ा होगा वह समाज खोखला मात्र होगा और जब कभी भी उसे सांसारिक सुख-सुविधाओं की कमी का अनुभव होगा, वह इच्छाविघात से प्रताड़ित होने लगेगा।

श्री सम्पूर्णानन्द जी का विचार है कि यदि वर्ग संघर्ष मिटाना है तो यह जरूरी नहीं कि वर्गों को ही मिटा दिया जाये, बल्कि यदि वर्ग संघर्ष मिटना है तो उत्पादन की सारी सामग्री समाज की सम्पत्ति हो जानी चाहिये। यदि ऐसा हो गया तो कोई भी व्यक्ति किसी का शोषण नहीं कर सकेगा। सभी लोग एक वर्ग-श्रमिक, मजदूर वर्ग के होंगे।² इस प्रकार वे वर्ग सहयोग के हिमायती थे।

श्रम के आधार पर ही पूंजी का निर्धारण किया जाना चाहिये। जब बिना किसी दबाव, लालच के सभी अपने सामर्थ्य भर श्रम करेंगे, तब सार्वजनिक भण्डार सब के पूर्ण श्रम से भरपूर होगा। उसमें से प्रत्येक व्यक्ति जरूरत के अनुसार ले लेगा। वे पृथ्वीलोक पर स्वर्गलोक स्थापित करना चाहते थे। स्वर्ग स्थापित करने का अर्थ है सभी लोग सुखी और समृद्ध हो, स्वस्थ और ज्ञान सम्पन्न हों। उनका यह आग्रह था कि मनुष्य क्षुद्र बातों के लिए अपनी मनुष्यता न खो बैठे। प्रत्येक व्यक्ति अपनी सांस्कृतिक उन्नति करे उनके अनुसार "जो व्यक्ति ऐसा मानते आये हैं कि मनुष्य योनी सभी योनियों में श्रेष्ठ है। उनको तो यह बात अवश्य स्वीकार कर लेनी चाहिये कि मनुष्य अपने इस कर्म और भोग क्षेत्र अर्थात् पृथ्वी को स्वर्गलोक मुकुटमणी, सच्ची वसुन्धरा बना सकता है।"³

डॉ० सम्पूर्णानन्द जी के समाजवाद की व्याख्या करते हुए महात्मा गांधी जी ने कहा था "उनका समाजवाद जहाँ समाजवाद के सभी प्रचलित

सिद्धान्तों को स्वीकार करता है वहीं इसमें कुछ विषमता भी है।⁴ महात्मा गांधी जी ने डा० सम्पूर्णानन्द को एक पत्र में लिखा था कि वे इस अन्तर का अनुभव तो कर सकते हैं मगर यह अन्तर क्या है वह ठीक से नहीं कर सकते। श्री सम्पूर्णानन्द जी ने इसके उत्तर में कहा था कि यह अन्तर उनके दार्शनिक दृष्टिकोण का है।

महात्मा गांधी जी के कथनानुसार— “श्री सम्पूर्णानन्द जी जिस समाजवाद की बात करते हैं यदि वास्तव में वही समाजवाद है तो मैं भी इस समाजवादी व्यवस्था को स्वीकार करता हूँ।” विद्यापीठ हीरक जयन्ती समारोह में दीक्षान्त भाषण करते हुए भी सम्पूर्णानन्द जी ने कहा था कि “समाजवाद की पुस्तक में क्या-क्या पढ़ाया जाता है मैं नहीं जानता। समाजवाद पर आप लोगों ने बहुत कुछ लिखा पढ़ा होगा। किसी समय मैंने विद्यापीठ में सोशलिज्म पढ़ाया है बहुत से विद्वान हुये हैं, जिन्होंने समाजवाद पर लिखा पढ़ा है। दुनियां में सबसे आगे नाम कार्ल मार्क्स का लिया जाता है और उनके साथी एंजेल्स का। मार्क्स के कार्यक्रमों की जो फिलास्फी है वह सारी दुनियां में कम्युनिज्म का आधार है और इसी फिलास्फी पर कम्युनिज्म टीका हुआ है। कम्युनिज्म की आधारशिला वही है अगर वह न माना जाये तो कम्युनिज्म का रूप किसी भी देश में नहीं रह सकता। यह हर कम्युनिज्म मानता है और उनका मानना सोलह आने ठीक है। मार्क्स का अभिमत सोशलिज्म बहुत बड़ी चीज है लेकिन उसका वह रूप टिका हुआ है मार्क्सज्म की फिलास्फी पर हम यदि कही सचमुच सोशलिज्म लाना चाहते हैं तो हम ऐसा कदापि नहीं कर सकते जब तक कि उसके लिये कोई दार्शनिक आधार न दृढ़ हो। कोई शास्त्रीय विषय हो, वह भौगोलिक बन्धनों में नहीं बांधा जा सकता। सोशलिज्म का जो स्वरूप भारत में स्थिर किया जायेगा वह किसी वैस्टन कन्ट्री या अफ्रिका में नहीं हो सकता, ऐसी बात नहीं है। कार्यक्रम अलग-अलग हो सकते हैं लेकिन सोशलिज्म एक ही होगा। अगर मैं इण्डियन सोशलिज्म कहता हूँ तो मेरा मतलब यह है कि सोशलिज्म के उस स्वरूप से जिसका उदय भारत वर्ष में हुआ है यदि वह ठीक है तो जर्मनी में, अफ्रिका में सारी दुनियां में लागू होगा। यदि गलत है तो भारत के लिये भी गलत है”⁵

श्री सम्पूर्णानन्द जी ने कहा था कि सोशलिज्म केवल इटानामिक प्रोग्राम नहीं। केवल आर्थिक प्रोग्राम का नाम ही समाजवाद नहीं है। समाजवाद जीवन का एक दर्शन है। यदि हम सचमुच समाजवाद का कार्यक्रम बनाना चाहते हैं, तो देखना होगा कि उसका कौन सा रूप हर जगह चलाया जा सकता है। अब यह प्रश्न उठता है कि समाजवाद

ठीक-ठीक कैसे बनेगा? समाजवाद में व्यक्ति का क्या स्थान होगा?व्यक्ति और समाज का क्या सम्बन्ध है?व्यक्ति समाज के लिये है या समाज व्यक्ति के लिये? हम जो भी इसका उत्तर दें, लेकिन जब तक ठीक-ठीक इसका उत्तर नहीं दिया जायेगा, समाजवाद कैसे बनेगा?कुछ हद तक तो हम सभी एकमत हो सकते हैं जैसे- जमींदारी उन्मूलन के सम्बन्ध में, पर समाजवाद में इतना ही नहीं है। जहां कम्युनिस्ट अधिनायकशाही हैं वहां व्यक्ति को सवाल करने का अधिकार नहीं है।⁶

यह एक ऐसा विषय है जिसका हमारे जीवन में केवल बौद्धिक दिलचस्पी का ही सम्बन्ध नहीं है। यहां इन बातों पर अवश्य विचार होना चाहिए। आज समाजवाद का रूप कम्युनिज्म हमारे सामने है। कम्युनिज्म में आत्मा की सत्ता नहीं मानते, यह एक विचार हैं। दूसरे विचार के लोग आत्मा की सत्ता मानते हैं, वे भी अपने को समाजवादी मानते हैं। दोनों मतों के अनुसार गर्वमेन्ट के, राज्य के, समाज के अलग-अलग अधिकार होते होंगे। इसमें क्या ठीक है बिना इसको जाने, बिना अपनी बुद्धि के अनुसार कुछ निश्चय किये, हमारे आर्थिक कार्यक्रम की गाड़ी नहीं चलेगी। हम दुनियां को बड़ी-बड़ी इमारतें नहीं पेश कर सकते, बहुत से अध्यापक नहीं पेश कर सकते, बहुत से छात्र नहीं पेश कर सकते, लेकिन हम विचारधारा पेश कर सकते हैं। यह एक बहुत बड़ी देन होगी देश के लिये, दुनियां के लिये।⁷

I UnHKZ %

1. सुधेन्शु श्रीवास्तव, दैनिक पत्र, आज, 19 जनवरी 1969
2. डॉ० सम्पूर्णानन्द, समाजवाद, प्रकाशक काशीविद्यापीठ, बनारस, पृ० 159,
3. वही, पृ० 287
4. वही, पृ० 287
5. डॉ० सम्पूर्णानन्द, काशी विद्यापीठ, हीरक जयन्ती अभिनन्दन, प्रकाशक काशीविद्यापीठ, काशी, 1983, पृ० 290
6. वही, पृ० 290
7. वही, पृ० 292

दक्यूलेकडी ल दस न्फ'व एन न्फर ओल व्रग्य खर्क*

21वीं सदी में प्रारम्भ से ही यह अनुभव किया जा रहा है कि आर्थिक और सामाजिक विषमता का संकट शोषित, पीड़ित और दलित वर्ग को झेलना पड़ा है।

19वीं सदी के मध्य में जब पूंजीवाद की मर्यादाएँ स्पष्ट हो रही थी और इतिहास के मंच पर श्रमिक वर्ग का प्रभावशाली उदय हो रहा था। उसी समय मार्क्स एंगल्स ने दार्शनिक, आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक दृष्टिकोण की शास्त्रीय विचार-व्यवस्था का निर्माण किया। इस विचार व्यवस्था में-

1. ऐतिहासिक भौतिकवाद, 2. द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, 3. राजनीतिक अर्थशास्त्र और 4. शास्त्रीय साम्यवाद का समावेश है।¹

मार्क्स एंगल्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्तों के आधार पर सामाजिक परिस्थिति का अध्ययन एवं विश्लेषण किया। इस प्रक्रिया में जिन निष्कर्षों तक वे पहुँचें उनमें से कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्ष इस प्रकार हैं -

अ) प्रत्येक वस्तु के मूल में कुछ अंतर्विरोध होते हैं।² अंतर्विरोध अर्थात् दो परस्पर विरोधी तत्वों का अस्तित्व। जैसे कि चल-अचल निश्चित-अनिश्चित, स्थिर-गतिशील इत्यादि। गतित्व विकासशील एवं परिवर्तनशील होने के कारण होने के कारण स्थिति तत्व से उसका संघर्ष होता रहता है। इस संघर्ष के पूर्व विकास की अवस्था में ही दूसरी अवस्था अंकुरित होती है इसी प्रकार संघर्ष के द्वारा वस्तु का विकास होता जाता है। विकास की इस प्रक्रिया में गतित्व स्थिति तत्व का निषेध करते हुए एक अवस्था को नष्ट कर देता है और दूसरी उच्चतर की अवस्था को जन्म देता है। जैसे कि कली की पूर्ण विकसित स्थिति एवं अवस्था नष्ट होने पर ही फल जन्म लेता है।

*अतिथि प्राध्यापक, इतिहास विभाग, शासकीय छत्रशाला, महाविद्यालय, पिछोर, शिवपुरी, म0प्र0

यही कार्ल मार्क्स का निषेध सिद्धान्त है।^१ यह गत्यात्मक विकास की प्रक्रिया चक्राकार (Circular) नहीं बल्कि सर्पिल (Spiral) है। आगे बढ़ने, ऊपर उठने एवं उच्च स्तर की ओर जाने वाली इस प्रक्रिया में वस्तु की अवस्था में परिवर्तन होता है और वस्तु के सत्व (Essence) का विकास होता रहता है। कार्ल मार्क्स ने इस सिद्धान्त का आधार लिया और समाज व्यवस्था का और इतिहास का विश्लेषण करते हुए यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया कि सामन्ती व्यवस्था (Feudal) की पूर्ण विकसित अवस्था में ही पूंजीवादी (Capitalist) व्यवस्था ने जन्म लिया। एक सामाजिक व्यवस्था जन्म लेने की प्रक्रिया में मानवीय संबंधों एवं सामाजिक सम्बन्धों में भी अनिवार्य रूप से परिवर्तन होता रहता है। मनुष्य और समाज का सत्व इन सम्बन्धों में ही व्यक्त होता है। आध्यात्मिक युग में ये सम्बन्ध धार्मिक स्वरूप के थे। आत्मा-परमात्मा अथवा ईश्वर-मनुष्य के सम्बन्धों का विश्लेषण धार्मिक स्तर पर ही किया जाता था। क्योंकि मनुष्य धार्मिक अथवा आध्यात्मिक प्राणिमात्र (Socialbeing) है, यही धारणा प्रचलित होती रही और सामाजिक सम्बन्धों का विश्लेषण तथा निर्वचन होता रहा। जैसे कि स्वामी और दास, मालिक और मजदूर, शासक और शासित, शोषक और शोषित इत्यादि। एक दृष्टि से यह अध्यात्मवाद से इहवाद एवं भौतिकवाद की ओर संक्रमण था। मार्क्स की विचारधारा इहवादी है। मार्क्स ने यह प्रस्थापित किया कि किसी भी युग में समाज की रचना एक वर्गीय नहीं बल्कि द्विवर्गीय होती रहती है और इन वर्गों का सत्व (Essence) और स्वरूप (Form) स्वभाव (Character) परस्पर विरोधी बना रहता है।

वस्तु के मूल में अंतर्विरोध के कारण ही वस्तु का संभाव्य विकास होता रहता है। इसी तरह समाज व्यवस्था के मूल में ही वर्गीय अंतर्विरोध के कारण समाज के विकास की संभावना होती है। मार्क्स-एंगल्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का ही दूसरा नाम है गत्यात्मक भौतिकवाद अथवा विरोध विकासवाद।^१

ब) समाज की रचना द्विवर्गीय होने और दो वर्गों का सत्व, स्वरूप और स्वभाव भिन्न-भिन्न होने के कारण दो वर्गों में। संघर्ष होना अनिवार्य है। इस वस्तु स्थिति के आधार पर मार्क्स इस निष्कर्ष पर आ पहुँचा कि मानवी समाज का इतिहास वर्ग संघर्ष का ही इतिहास है। 'कम्युनिस्ट पार्टी के घोषणा पत्र का प्रारम्भ इसी विधान से है "the history of All hitherto existing society is a

history of class struggle"⁵ मार्क्स-एंगल्स की यह धारणा थी कि समाज का विकास वर्ग संघर्ष द्वारा ही होता आ रहा है। वर्ग संघर्ष कभी पोशीदा (now hidden) तो कभी खुले आम (now open) होता आया है। मार्क्स ने पूंजीवादी व्यवस्था को नष्ट करने के लिए पूंजीवादी अवस्था के विकास प्रक्रिया में ही इतिहास के मंच पर उदित हुए दुनिया के हाथों में वर्ग संघर्ष का हथियार दिया और विश्व में परिवर्तन अथवा बदलाव लाने की जिम्मेदारी भी मजदूर वर्ग पर ही सौंप दी। इसीलिए तो कम्युनिस्ट पार्टी के घोषणा-पत्र के अंत में दुनिया के मजदूरों को संबोधित करते हुए मार्क्स ने क्रान्ति का ऐलान किया *working men of All countries unite*⁶ यही मार्क्स का 'वर्ग सिद्धान्त' है।

- स) मार्क्स ने यह भी प्रस्थापित किया कि वर्गयुक्त समाज की सम्पूर्ण रचना आर्थिक संबंधों पर आधारित होती है। मनुष्य को जीवित रहने के लिए अपने और अपने परिवार के निर्वाह के लिए उत्पादन की आवश्यकता होती है। उत्पादन, उत्पादन के साधन और शक्तियाँ, उत्पादन साधनों पर स्वामित्व, उत्पादन का विनिमय इन सभी पर समाज की आर्थिक व्यवस्था का ढांचा निर्भर होता है। प्रचलित समाज व्यवस्था में। एक वर्ग के पास उत्पादन के साधनों एवं शक्तियों का स्वामित्व होता है। दूसरे वर्ग के पास सिवा मेहनत के अन्य साधनों एवं शक्तियाँ न होने के कारण उसे निर्वाह के लिए अपना श्रम बेचना अनिवार्य होता है। इसी दूसरे वर्ग को मार्क्स-एंगल्स ने 'प्रोलेतारिअत' कहा है। यह वर्ग श्रम के द्वारा धन का उपार्जन करता है और पहला वर्ग जिसे मार्क्स-एंगल्स ने 'बूर्ज्वा' कहा है। यह वर्ग उक्त धन का स्वेच्छानुसार उपभोग करता है। बढ़ते वर्ग संघर्ष के साथ ही समाज उत्पादन की उच्च अवस्था को प्राप्त होता है। अंत में सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति सफल होने पर समाज विकास के हर मोड़ पर वर्ग का कुछ हिस्सा श्रमिक वर्ग में विलीन होने के कारण वर्गहीन समाज एवं शोषण मुक्त समाज स्थापित होता है। वर्गहीन अथवा शोषण मुक्त समाज का निर्माण, यही वर्ग संघर्ष का अंतिम लक्ष्य है।⁷

द) मार्क्स के इन विचारों का निष्कर्ष यह है कि आर्थिक व्यवस्था एवं आर्थिक संबंध सम्पूर्ण समाज व्यवहार का मूलाधार (Infrastructure) है। मनुष्य के जीवन में आर्थिक व्यवहार के अलावा धर्मनीति, समाजनीति, राजनीति, कानून, कला, साहित्य इत्यादि व्यवहारों की भी आवश्यकता होती है। इन सभी व्यवहार क्षेत्रों का अस्तित्व आर्थिक संबंधों के मूलाधार पर निर्भर होने के कारण उन्हें 'ऊपरी रचना' अथवा 'अधिरचना' (Super structure) कहा जाता है। मानवीय समाज का सम्पूर्ण व्यवहार इसी मूलाधार और अधिरचना के तहत होता रहता है। वर्ग-संघर्ष के द्वारा आर्थिक संबंधों में परिवर्तन होने के परिणामस्वरूप अधिरचना में अनिवार्यतः परिवर्तन होता रहता है।

इसीलिए मूलाधार और अधिरचनाएँ (Base And super structure) ऐतिहासिक भौतिकवाद की बुनियाद है और वर्ग-संघर्ष ही समाज के सम्पूर्ण विकास का एवं आमूल समाज परिवर्तन का एकमात्र क्रान्तिकारी मार्ग है।

मूलाधार और अधिरचना यह सिद्धान्त तो मार्क्सवाद एवं मार्क्सवादी विचारधारा का केन्द्रस्थान माना जाता है। मार्क्स ने इस बात का पूरा यकीन दिलाया कि वर्ग संघर्ष ही शोषण मुक्ति का क्रान्तिकारी हथियार है और क्रान्ति द्वारा समाज में आमूलचूल परिवर्तन करने की जिम्मेदारी मेहनतकश मजदूर वर्ग को ही निभानी होगी।

इस क्रान्तिकारी वर्ग को प्रचलित सामाजिक वास्तविकता (social reality) का परिचय देते उसको क्रान्ति सम्मुख करना एवं उसकी पूर्वसिद्धी (Preconditioning) करना जितना आवश्यक है उतनी ही इस क्रान्तिकारी वर्ग को वास्तविकता की स्थिति-गति से अवगत कराते हुए राजकीय और सामाजिक दृष्टि से शिक्षित करना भी आवश्यक है यह महत्वपूर्ण अनिवार्य कार्य साहित्य के माध्यम से ही होना सम्भव है। इसलिए कहा गया है कि समाज "Marx found, in Art, A powerful weapon to educate the masses"⁸ समाज की नैतिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक अभिव्यक्ति से अथवा निवेदन से सत्ताधारी वर्ग की आशा और हित संबंध जुड़े रहते हैं और अपने हित सम्बन्धों के सुरक्षा के लिए वह सभी व्यवस्थाओं को

अपरिवर्तित स्थिति में परंपराबद्ध करना चाहता है। इसीलिए समाज में दूसरी शक्ति को जगाकर उसका संगठन करते हुए उसी को समाज परिवर्तन तथा समाज क्रान्ति का कार्य सौंपा जाता है। मार्क्स-एंगल्स ने दुनिया भर के मेहनतकश मजदूरों को संबोधित करते हुए जिम्मेदारी का संदेश दिया। मार्क्सवाद परिवर्तित, प्रगतिशील जीवनाभिमुख तथा यथार्थवादी भी है। अभिव्यक्ति का माध्यम है और क्रान्ति का साधन भी।

I UnHkz %

1. सदा कन्हाडे, मार्क्सवाद और दलित साहित्य, वसुधा-58, जुलाई-सितम्बर, 2003, पृ 42
2. ओम प्रकाश गाबा, सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया, समकालीन राजनीति सिद्धान्त, मयूर पेपर बैक्स, नोएडा, चतुर्थ नव-निर्मित संस्करण, 2004, पृ 372
3. सदा कन्हाडे, 2003; मार्क्सवाद और दलित साहित्य, वसुधा-58, जुलाई-सितम्बर, पृ 43
4. वही, पृ 43
5. डा० पी० डी० शर्मा; कार्ल मार्क्स और वैज्ञानिक समाजवाद तथा मार्क्स के पूर्ववर्ती विचारक, आधुनिक राजनीतिक विचारों का इतिहास, पृ 293
6. सदा कन्हाडे, 2003; मार्क्सवाद और दलित साहित्य, वसुधा-58, जुलाई-सितम्बर, पृ 44
7. डा० पी० डी० शर्मा; कार्ल मार्क्स और वैज्ञानिक समाजवाद तथा मार्क्स के पूर्ववर्ती विचारक, आधुनिक राजनीतिक विचारों का इतिहास, पृ 294
8. वही, पृ 297

oržeku l e; ea MkND jke eukgj ykfg; k ds l ekt n'kū dh i kl fxdrk MkND j tuh'k*

मानव स्वतंत्रता, समानता तथा भारतीय समाजवाद के मुख्य स्तम्भकार, बुद्धिजीवी डॉ० राममनोहर लोहिया एक समर्पित समाजसेवी थे। लोहिया मार्क्स एवं गाँधी दोनों से प्रभावित थे, लेकिन वे जीवनपर्यन्त न तो पूर्णरूपेण गाँधीवादी ही बन सके और न मार्क्सवादी ही हो पाये। लोहिया ने मार्क्स और गाँधी के सामाजिक दर्शन को ग्रहण कर दोनों विद्वानों के विचारों को समाज सुधार के लिए उपयोग किया। इसलिए इन्हें सामाजिक समन्वयवादी भी कहा जाता है। डॉ० लोहिया समाजवाद के सन्दर्भ में कहते हैं कि “समाजवाद को देश की परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित कर देना चाहिए, रूढ़िवाद तथा संगठित समाजवाद एक मृतक सिद्धान्त एवं संगठन है, जिसे समकालीन परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित करते रहना चाहिए।¹

भारतीय समाज के सामाजिक विभेदीकरण पर लोहिया ने अपने सुधारात्मक टिप्पणी दी है, आप ने कहा कि जो राष्ट्र जितना ही समृद्ध होता है, उसके नागरिकों में उतनी ही कम असमानता रहती है। गरीबी और असमानता साथ-साथ चलते हैं क्योंकि दोनों ही पिछड़ी हुयी सभ्यता एवं कुंठित चेतना की उपज है।²

लोहिया समाज में आर्थिक असमानता को दूर करने का भी विचार प्रस्तुत करते हैं और गाँधी के विकेन्द्रीकरण के समान आर्थिक आधारों का समर्थन करते हुए कहते हैं कि केन्द्रीकरण की बुराइयों से बचने के लिए छोटे पैमाने पर उत्पादन करना चाहिए, बड़े पैमाने पर उत्पादन करने से आर्थिक केन्द्रीकरण उत्पन्न हो जाता है।³

*असिस्टेन्ट प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, चुनार, मीरजापुर, उ०प्र०

भारत में समाजवादी विचारधारा विभिन्न धाराओं के रूप में विकसित हुई, सर्वप्रथम कम्युनिस्ट विचारधारा जिसमें एम0 एन0 राय जो सोवियत संघ की क्रान्ति से प्रभावित थे, दूसरी विचारधारा कांग्रेस पार्टी में ही 'स्वराज्य पार्टी' के नाम से हुयी, तीसरी विचारधारा नेहरू की थी जहां 1929 में लाहौर अधिवेशन में पूर्ण स्वतंत्रता की मांग की गयी। भारत में समाजवाद की चौथी विचारधारा जयप्रकाश नारायण एवं नरेन्द्र देव की है जो मार्क्सवाद से प्रभावित थे। वहीं डॉ0 लोहिया जिन्होंने जर्मनी में मार्क्सवाद पर अध्ययन किया लोकतान्त्रिक समाजवादी विचारधारा से प्रभावित थे। इन लोगों ने कांग्रेस पार्टी में ही मई 1934 में कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना की थी। धीरे-धीरे जयप्रकाश नारायण, नरेन्द्र देव, लोहिया, पटवर्धन की विचारधारा समन्वयवादी हो गयी।⁴ लोहिया जी ने कहा था कि वर्तमान विश्व में तीन प्रकार की विचारधाराएं हैं, पूंजीवाद, साम्यवाद तथा समाजवाद। आपके अनुसार पूंजीवाद तथा साम्यवाद दोनों ही भारत सहित विकासशील देशों के लिए अनुपयुक्त हैं, क्योंकि दोनों व्यवस्थाएं पूंजी उन्नत देशों के लिए हैं। जबकि भारत सहित विकासशील देशों की प्रमुख समस्या कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था है। जो सीमित साधनों के द्वारा समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत समतावादी समाज की स्थापना आवश्यक है।⁵ 1950 में लोहिया ने रीवा में 'हिन्द किसान पंचायत' के सम्मेलन में अपने अध्यक्षीय भाषण में 'गरीबी हटाओं' का नारा दिया।⁶

लोहिया का विचार है कि भारतीय समाजवाद में प्रत्येक व्यक्ति को बिना किसी भेदभाव के विकास के लिए समान अवसरों की समानता उपलब्ध होना चाहिए और प्रत्येक वर्गों के उत्थान के लिए विशेष अधिकार तथा सुविधाएं प्रदान करना चाहिए तथा समाज में अक्षम वर्ग अर्थात् वृद्ध, बीमार, अपंग, अन्ध, बहरे जैसे व्यक्ति जो काम नहीं कर सकते, उनको समर्पित भाव से सहयोग करना चाहिए।⁷ लोहिया ने मार्क्स के इस दावे की आलोचना कि है कि मानव सभ्यता का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है। आपने कहा कि जाति संघर्ष ने भी समाज में परिवर्तन किया है तथा शताब्दियों से शोषण जातिगत कारणों से भारतीय समाज में होते आ रहे हैं और चूंकि जाति अपरिवर्तनशील है, इसलिए शोषण कम नहीं हो रहे हैं,

समता एवं विकास के लिए प्रत्येक जातियों को देश हित में सोचना होगा तभी समाज कल्याण संभव है।⁸

लोहिया का कहना था कि समाज सुधार के लिए सामाजिक असमानताओं को समाप्त करना आवश्यक है तथा अन्तर्जातीय विवाहों के लिए जनमत तैयार किया जाना चाहिए। धर्म के सन्दर्भ में लोहिया का कहना है कि सामाजिक समता के मार्ग में धार्मिकता भी बाधक है, धर्म का बाहरी स्वरूप सामाजिक विभेद उत्पन्न करने वाला है, इसलिए साम्प्रदायिक धर्मों को अपनी संकीर्णता त्याग कर अपना सच्चा स्वरूप ग्रहण करने की आवश्यकता है।⁹

समाज सुधार के लिए लोहिया शिक्षा को सबसे सशक्त माध्यम मानते थे। उनका कहना था कि अगर लोगों को शिक्षित युद्धस्तर पर किया जाये तो सामाजिक व्यवस्था में सुधार स्वयं होने लगेंगे।

लोहिया ने महिला सुधार को भी अत्यधिक महत्व दिया और कहा कि ईश्वर शक्ति के बाद यदि किसी शक्ति को मानना है तो वह स्त्री-शक्ति है। आपने कहा की स्वयं महिलाओं को शिक्षा प्राप्त करना, कुप्रथाओं का विरोध करना, दहेज का विरोध करना, आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होना तथा सभी सामाजिक अपमान का विरोध करना होगा। तभी महिला स्वयं उन्नति कर सकती है।¹⁰ लोहिया भारतीय संस्कृति में अत्यधिक श्रद्धा रखते थे, आपका कहना है कि आध्यात्मवाद कोई ईश्वरीय महिमा नहीं है बल्कि हम सभी का प्रत्येक व्यवहार जिसमें पवित्रता, सत्यता, सद्ब्यवहार और अहिंसा का समावेश है।

संक्षेप में, लोहिया के विचारों की प्रासंगिकता को वर्तमान में समीक्षा कि जाये, तो हमें लोहिया के उस कथन को याद करना होगा। जब उन्होंने 1962 में कहा था कि “लोग मेरे विचारों पर अमल अवश्य करेंगे लेकिन शायद मेरे मरने के बाद करेंगे”। आज लोग लोहिया की समाजवादी विचारधाराओं को लेकर गोष्ठियाँ, वर्कशाप, एवं परिचर्चा कर रहे हैं और पत्र-पत्रिकाएं निकाल रहे हैं, ये सब लोहिया की वर्तमान समय में प्रासंगिकता को दर्शाता है। आज भी समाज सुधार के लिए उनके द्वारा किए गए प्रयास प्रासंगिक हैं।

I UnHK %

1. लोहिया, 1968; भारत और समाजवाद, नवहिन्द प्रकाशन, हैदराबाद, व्लूम-1
2. लोहिया, पावटी एण्ड इन्वलिटी, पृ0 57
3. लोहिया, 1952; समाजवाद के आर्थिक आधार, नवभारत प्रकाशन गृह, लहरियासराय
4. शर्मा, यतीन्द्रनाथ, 1976; डॉ0 लोहिया : अर्थ दर्शन, चित्रा प्रकाशन, कानपुर, पृ0 146
5. घोष, शंकर, 1971; सोशलिज्म एण्ड कम्युनिज्म इन इण्डिया, एलाइड पब्लि0 प्रा0लि0, बम्बई
6. समाजवादी पार्टी के छठे वार्षिक सम्मेलन का नियंत्रण पत्र, बम्बई 1945
7. शास्त्री, प्रकाश, 1982; भारत में समाजवादी आन्दोलन, पंचशील प्रकाशन, जयपुर
8. लोहिया; रिपोर्ट ऑफ द स्पेशल कन्वेंशन पंचमढी, बम्बई, 23 से 27 मई 1962
9. लोहिया. 1973; धर्म पर एक दृष्टि, राम मनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, हैदराबाद
10. लोहिया. 1968; वही

मकड वकडक , ओ ककतद

U; k; % , d v/; ; u

मकड कक "ककके कक फत; *

आज जो लोग समाजवादी साहित्य से परिचित रहे हो या न रहे हो और जिनका प्रगतिशील वामपंथी आन्दोलनो से कभी दूर का भी संबंध नहीं रहा वे लोग भी सामाजिक न्याय की बातें करते हैं। उन्हें ऐसा करने का अधिकार भी है। क्योंकि सामाजिक न्याय शब्द का प्रयोग भारतीय संविधान में हुआ है। डॉ० अम्बेडकर की दृष्टि से सामाजिक न्याय सम्बन्धी निर्देशक तत्व दक्षिण पंथी विचारधारा से राष्ट्र की रक्षा करने के लिए उपयोगी अस्त्र थे। अगर हम इन तत्वों का विश्लेषण करें तो स्पष्ट हो जाता है कि इनका उद्देश्य देश की जनता को आर्थिक विषमताओं और आर्थिक शोषण से मुक्त करा कर उसकी सर्वांगीण उन्नति के विकास की ओर से प्रेरित करना था। इसलिए यदि मार्क्सवादी या अन्य वामपंथी दल सामाजिक न्याय को महत्व दे तो कोई बेजा बात नहीं है। डॉ० साहब का सर्वप्रमुख और सम्भवतया एक मात्र लक्ष्य था 'दलितोद्धार' बौद्ध धर्म, सिख धर्म, ब्रह्म समाज, आर्य समाज, स्वामी विवेकानन्द और महात्मा गाँधी इन सबने अपने-अपने तरीके से दलितोद्धार का प्रयत्न किया लेकिन ये लोग जाति प्रथा, और हिन्दू समाज के परम्परागत विधान पर कठोर प्रहार नहीं किये जितना की डॉ० साहब ने किया। डॉ० अम्बेडकर पर इस बात पर जोर दिया कि चार वर्णों पर आधारित सामाजिक ढाँचे कि हिन्दू योजना ने ही जाति-व्यवस्था और अस्पृश्यता को जन्म दिया है, जो कि असमानता का एक अमानवीय और चरमरूप है। अतः अस्पृश्यों की समस्याएँ किसी छोटे-मोटे उपचार से हल नहीं हो सकती, उनके लिए क्रान्तिकारी सामाजिक हल की आवश्यकता है। डॉ० साहब के अनुसार, ऊँचे स्तर के लोगों के द्वारा शूद्र लोगों को हर प्रकार या कार्य से वंचित कर रखा है। उन्होंने कहा— "जाति प्रथा को नष्ट करने का एक ही मार्ग है — अन्तर्जातीय विवाह, न कि सहभोज। खून का मिलना ही अपने पन की भावना ला सकता है। वे जाति प्रथा को हिन्दू धर्म की

*पी०डी०एफ०, समाजशास्त्र विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी, ३०५०

सबसे बड़ी खराबी मानते थे और मनुस्मृति को जलाने का जो कार्य किया है उसे समझ पाना कठिन है। उनका यह कार्य हिन्दुओं की परम्परागत व्यवस्था के विरुद्ध गहरे आक्रोश का परिचायक था। उन्होंने सुझाव दिया कि मन्दिर में पुजारी पद पर किसी एक जाति का एकाधिकार नहीं होना चाहिए, वरन् पुजारी पद को प्रजातान्त्रिक बनाया जाना चाहिए। डॉ० अम्बेडकर जानते थे कि अछूतों की वर्तमान स्थिति के लिए स्वयं अछूत वर्ग भी उत्तरदायी है। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि अछूतों द्वारा अपनी बुरी आदतों और हीनता की भावना का त्याग कर आत्मसम्मानपूर्ण जीवन की ओर प्रवृत्त होना चाहिए। उनका मानना था कि “यदि महार अपने बच्चों को स्वयं के मुकाबले में अच्छी दिशा में देखने की इच्छा नहीं रखते तो, एक मनुष्य व एक जानवर में कोई अन्तर नहीं होगा। डॉ० साहब ने इस बात पर बल दिया कि अछूतों को सभी सार्वजनिक स्थानों के प्रयोग का अधिकार हो। उन्होंने इस अधिकार के लिए सत्याग्रह भी किए। चाहे 1927 में महद तालाब सत्याग्रह, गंगा सागर तालाब, हो या 1930 ई० में कालाराम मन्दिर प्रवेश के लिए सत्याग्रह हो एवं गोल-मेज सभा में भी यह बात उठाई थी। उन्होंने केन्द्रीय सभा में कहा था “धर्म जो अपने को मानने वालों के बीच में पक्षपात करता है, धर्म नहीं है। किसी भी गलत बात को धर्म के अन्तर्गत नहीं लाया जा सकता धर्म व दासता का कोई साथ नहीं है। डॉ० साहब का मानना था कि साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के अन्तर्गत जिस प्रकार धर्मों को अलग प्रतिनिधित्व की स्थिति प्राप्त है उसी प्रकार दलितों को भी ऐसा ही पृथक प्रतिनिधित्व प्राप्त होना चाहिए। जिसमें दलितों के प्रतिनिधि केवल दलितों द्वारा ही चुने जाएं। गाँधी जी के साथ उनका विरोध सबसे प्रमुख रूप से इसी बात पर था। गाँधी जी का कहना था कि ‘दलित वर्ग,’ हिन्दू समाज का एक अविभाज्य अंग है और ऐसी किसी भी स्थिति को स्वीकार नहीं किया जा सकता, जिससे हिन्दू समाज का विघटन हो। डॉ० अम्बेडकर का विचार था कि “मनुस्मृति” के आधार पर भारत के अछूतों पर जो कानूनी पाबन्दियाँ लगी हुई हैं, वे कानून से ही दूर की जा सकती हैं। प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था को अपनाने के नाते भारत के सभी नागरिकों को कानून की दृष्टि से समानता का अधिकार तो स्वाभाविक रूप से प्राप्त होता है। अनु० 15 और 16 में सामाजिक समानता की व्यवस्था और अनु० 17 में अस्पृश्यता को कानून की दृष्टि में अपराध घोषित करने की जो व्यवस्था की गई है और संविधान में ही अनुसूचित जातियों तथा जन-जातियों के लिए आरक्षण की जो व्यवस्था की गई है, उसमें डॉ० अम्बेडकर का प्रभाव भी एक तत्व रहा होगा। सन् 1930 में ‘स्टारटे कमेट्री’ के एक सदस्य के रूप में भी उन्होंने निम्न सिफारिश की थी —

1. दलित छात्रों के वजीफों की संख्या बढ़ाई जाए।
2. छात्रावासों की व्यवस्था की जाए।
3. उन्हें कारखानो, रेलो की कार्यशालाओं तथा अन्य ट्रेनिंग के लिए वजीफे दिये जाए।

डॉ० अम्बेडकर दलितों के लिए सम्मानपूर्ण जीवन चाहते थे और जब उन्होंने समझा कि दलित जब तक हिन्दू है, तब तक उनके लिए सम्मानपूर्ण जीवन बिता पाना सम्भव नहीं है, तब उन्होंने दलितों के धर्म परिवर्तन की बात सोची। बौद्ध धर्म में उन्होंने समानता का सन्देश पाया और सन् 1956 में 5 लाख व्यक्तियों के साथ उन्होंने बौद्ध धर्म को अपना लिया। इस धर्म परिवर्तन का उद्देश्य दलित वर्ग को अपनी एक अलग पहचान और एक सम्मानपूर्ण स्थिति प्रदान करना ही था। सामाजिक न्याय की यह कल्पना केवल भारत में उत्पन्न और वह भी हिन्दू समाज में पाई जाने वाली वर्ण व्यवस्था में उत्पन्न सामाजिक भेदों को और उनके कारण उत्पन्न परिस्थितियों के सुधार के लिए नहीं लाई गई। बल्कि उनका उद्देश्य सभी प्रकार के व्यक्तियों के लिए चाहे वे किसी समाज के क्यों न हो पर यदि उन्हें अपनी व्यवस्था आर्थिक स्थिति अथवा अन्य इस प्रकार के कारणों से कठिनाईयों उत्पन्न होती है तो उन्हें दूर कर उनके रहन सहन के स्तर को ऊँचा करना ही उद्देश्य था। सामाजिक न्याय की कल्पना इसी दृष्टि से सारे भारत में उन मानदंडों की जानी चाहिए जो गाँव या शहर, धर्म या जाति, गोरे या काले हर प्रकार के अंतरों से ऊपर उठ कर समान रूप से व्याप्त होने वाली स्थिति के बारे में है।

I UnHkz %

1. गाबा. ओम प्रकाश, 2007; राजनीति विज्ञान विश्वकोश, मयूर पेपर बैक्स, नोएडा, पृ० 477
2. वर्मा. वी०पी०; 'आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन', लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा, पृ० 85-87.
3. भारती. कँवल, 2007; 'दलित विमर्श की भूमिका', इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ० 512-52.
4. शाह. धनश्याम, 2008; 'अस्मिताओं का सहअस्तित्व', अभय कुमार दूबे (सम्पा०), 'आधुनिकता के आइने में दलित', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० 2010

Hkkjr ea vLi" ; rk % , d uohu fo' ysk.k MKND jked".k i k. Ms *

प्रस्तुत शोध पत्र द्वितीयक स्रोत एवं अन्वेषणात्मक शोध प्रारूप पर आधारित है। इस अध्ययन में विविध परतों को अन्वेषित किया गया है। जिसमें सामाजिक न्याय के विविध पहलू भी रेखांकित होते हैं जो सामाजिक परिवर्तन का सूचक है। वर्ण व्यवस्था प्रारम्भ में व्यक्ति के गुण, कर्म, व्यवसाय एवं स्वभाव पर आधारित था। बाद में यह व्यवस्था जन्म पर आधारित हो गयी। कालान्तर में इसी व्यवस्था के जटिलता एवं अमानवीय व्यवहारों से 'अस्पृश्यता' का जन्म हुआ। तत्पश्चात् समाज में एक अस्पृश्य या अन्त्यज वर्ग का उदय हुआ। वह उपर थोपी गयी ढेर सारी अपात्रताओं एवं विभिन्न समयान्तराओं के थपेड़ों को सहते हुए अपने अधिकारों के अलावा अपने मान-सम्मान एवं अस्मिता के लिए संघर्षरत रहा।

सर्वप्रथम ब्रिटिश काल में अछूतों या अस्पृश्यों को दलित वर्ग के नाम से पुकारा गया। बाद में यह शब्द डॉ. अम्बेडकर के दलित नेता के रूप में प्रसिद्धि मिलने से चर्चित हो गया क्योंकि स्वयं डॉ. अम्बेडकर दलित परिवार से थे इस वर्ग की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं अन्य पक्षों से भलि-भांति परिचित थे। 1935 के अधिनियम के पहले तक भारत सरकार "दलित वर्ग" जैसे शब्द का प्रयोग करती थी। 1935 की जनगणना में दलित वर्ग के वर्गीकरण के लिए नौ परीक्षणों का उल्लेख किया गया वे सब छुआ-छूत, मन्दिर प्रवेश और अन्य सामाजिक व्यवहारों पर आधारित थे। 'अनुसूचित जाति' शब्द सर्वप्रथम प्रयोग साइमन कमीशन एवं तत्पश्चात् भारत सरकार, 1935 के अधिनियम के तहत 1936 में किया गया जिसमें असम, बंगाल, बिहार, बम्बई, मध्यप्रान्त, मद्रास, उड़ीसा, पंजाब और संयुक्त प्रान्त की कुछ जातियों को "अनुसूचित जाति" बताया गया। आज अनुसूचित

*असि० प्रोफेसर, शिक्षाशास्त्र विभाग, महाराजा बलवंत सिंह पी० जी० कालेज, गंगापुर, वाराणसी, उ०प्र०

जाति शब्द एक राजनीतिक न्यायिक एवं संवैधानिक शब्द है। कुछ लोग दलित शब्द के अन्तर्गत अनुसूचित जनजातियों को नहीं रखते, क्योंकि स्वयं न तो अम्बेडकर ने और न ही प्रख्यात समाजशास्त्री एलेनर जिलियट ने ही जनजातियों को दलित के अन्तर्गत रखा जिसका कारण यह है कि विकास की व्यावहारिक स्थिति दलितों और आदिवासियों के लिए अलग-अलग है दलित तेजी से आधुनिकीकृत, शहरीकृत और पश्चिमीकृत होना चाहता है जबकि आदिवासी (अनु0 जनजाति) अपनी जमीन से जुड़े रहकर ही कुछ करना चाहता है। भारत में आधुनिक युग से पहले अछुतों को अपना नाम चुनने की आजादी नहीं थी, 1933 में इन्हें हरिजन अर्थात् ईश्वर के जन या ईश्वर की संतान कहा गया जिसे अब अपमानजनक माना जाता है। अग्रजों ने अपनी सुविधानुसार इस वर्ग को आउट कास्ट, डिप्रेसड कास्ट, एक्सटेरियर कास्ट का नाम दिया।

मध्यकाल में अति शूद्र या अस्पृश्य या अन्त्यज के रूप में जाने जाते थे। इनके द्वारा समाज व व्यक्ति की स्वच्छता के लिए जाने वाले महत्वपूर्ण सामाजिक कार्य के बावजूद उन्हें हेय की दृष्टि से देखा जाने लगा था। 'अन्त्यज' शब्द का अर्थ है जो अन्त में उत्पन्न हुआ हो या जिसकी स्थिति अन्त में हो उसे अन्त्यज कहते हैं।²

प्राचीन भारतीय सामाजिक संरचना में 'अनिर्वसित' का सम्बन्ध शूद्रों (सामान्य या असत्) से था तथा 'निर्वसित' शब्द-अस्पृश्य या त्याज्य शूद्रों (निम्न या असत् शूद्रों) को कहा जाता था।³

इनका वर्गीकरण शूद्र से इस प्रकार भी है -

1. अनिर्वसित या असत् शूद्र - इस वर्ग के द्वारा प्रयोग की गई पात्रों की शुद्धि होती थी।
2. निर्वसित या असत् शूद्र (अन्त्यज वर्ग)- उपयुक्त पात्र सर्वथा त्याज्य किये जाते थे उसके किसी भी संस्कार से शुद्धि नहीं होती थी।

अन्त्यजों में भी दो वर्ग हुए-

अन्त्यज वर्ग (पहला वर्ग)- रजक, चर्मकार, नट, वरूड, केवट (मच्छीमार), मेठ, भिल्ल जातियों का समाज। अन्त्यज वर्ग (दूसरा वर्ग)- चाण्डाल, श्वपच अर्थात् कुत्ते का मांस खाने, क्षता अर्थात् (शूद्र पिता एवं

क्षत्रीय माता की सन्तान), सूत, वैदेहक, मागध, आयोगव, इन सात जातियों का समाज। गाय का मांस खाने वाली सभी जातियाँ अन्त्यज कही गयी।⁴ प्रारम्भ में इनकी उत्पत्ति का आधार व्यवसाय था। किन्तु बाद में जन्म आदि माना जाने लगा जो आज भी प्रचलित है।

गांधी जी ने दलित, अछूत, डोम या अंत्यज शब्द की अपेक्षा 'हरिजन' शब्द को इन शब्दों के स्थान पर महत्व दिया। उन्होंने कहा कि "जहाँ तक मेरा ख्याल है 'दलित' नाम स्व. स्वामी श्रद्धानन्द का दिया हुआ है।" हरिजन के बारे में गांधी जी की अपील थी कि अन्त्यज इसे (हरिजन शब्द को) हृदय से ग्रहण करे और गुणों से 'हरिजन' अर्थात् ईश्वर के जन बनें। गांधीजी की हरिजन विशयक विचार शैली डॉ. अम्बेडकर के 'बहिष्कृत' या दलित की विचार शैली से भिन्न थी। गांधीजी ने 'हरिजनों' की सेवा के लिए 'हरिजन सेवक संघ' की स्थापना की और 'हरिजन' (अंग्रेजी) 'हरिजन सेवक' (हिन्दी) 'हरिजन बन्धु' (गुजराती में) समाचार पत्र, हरिजनों को लक्ष्य करके निकाले।⁵ संक्षेप में, उपरोक्त अध्ययन से भारतीय समाज में अस्पृश्यता में अनवरत् सामाजिक परिवर्तन के दर्शन दृष्टिगत होते हैं।

I Unhkz %

1. गंगवार, रामपाल एवं सिंह, निलम, 2007; दलित विमर्श, राका प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ0 1-2
2. आम्टे, वामन शिवराम, संस्कृत हिन्दी कोश, पृ0 50
3. चौधरी, आर0के0; पृ0 67 .
4. वर्णेकर, श्रीधर भास्कर, संस्कृत वाङ्मय कोश, परिभाषा खण्ड (पूर्वाध), भारतीय भाषा परिषद, कलकत्ता , पृ0 110
5. गंगवार, रामपाल एवं सिंह, निलम, 2007; वही, पृ0 2

dchj dk l ekt n'ku vksj ikl fxdrk i nek/kheku*

भक्ति आन्दोलन के मूल में समाज के उपेक्षित वर्ग द्वारा अपनी वस्तु स्थिति का ज्ञान और उससे उत्पन्न पीड़ा का गहरा बोध है। समाज में व्याप्त विसंगतियाँ अन्तर्विरोध, ढोंग, पाखंड, अमानवीय व्यवहार किसी भी विचारवान मनुष्य को उद्वेलित करते हैं। कबीर भी इसके अपवाद नहीं थे।

कबीर का प्रादुर्भाव ऐसे समय में हुआ जब समाज अनेक बुराईयों में जकड़ा हुआ था और धार्मिक उन्माद के कारण हिन्दू-मुसलमान आपस में झगड़ते रहते थे। उस समय किसी ऐसे महात्मा या समाज-सुधारक की आवश्यकता थी जो समाज में व्याप्त इन बुराईयों पर निर्भीकता से प्रहार कर सके, दोनों धर्मों के अनुयायियों को बिना किसी भेदभाव के फटकार सके और सदाचरण का उपदेश देकर सामाजिक समरसता की स्थापना करें। कबीर अपने समय की इस आवश्यकता की पूर्ति करते थे।

कबीर प्रगतिशील चेतना से युक्त एक विद्रोही कवि थे। वे लीक छोड़ कर चलने वाले ऐसे कवि थे जिन्होंने समाज में व्याप्त विसंगतियों, मिथ्याडम्बरों एवं अनीतिपूर्ण आचरण पर खुलकर प्रहार किये। उन्हें जो ठीक लगा उसे कहने में कोई संकोच नहीं किया। वस्तुतः वे जन्म से विद्रोही, प्रकृति से समाज-सुधारक एवं हृदय से लोक-कल्याण के आकांक्षी महामानव थे। उनके व्यक्तित्व का पूरा प्रतिबिम्ब उनके साहित्य में विद्यमान है।

कबीर को ऐसा कोई भी मन स्वीकार्य नहीं जो मनुष्य-मनुष्य के बीच भेदभाव पैदा कर सके— कोई भी अनुष्ठान या साधना पद्धति या शास्त्र स्वीकार्य नहीं जो विवेक सम्मत न हो। प्रत्येक अविवेकी व्यवस्था को अस्वीकार करने का साहस लेकर कबीर पैदा हुए थे। वर्ण व्यवस्था पर प्रहार करते हुए कबीर कहते हैं— ऊँचे कुल का जन्मिया करनी ऊँच न होय। सुबरन कलस सुरा भरा साधू निन्दत सोय।। मूर्ति पूजा, रोजा, नमाज, तिलक, तीर्थाटन, हज को ढोंग एवं पाखण्ड बताकर अन्तः साधना एवं मन की शुद्धि पर बल देते हैं —

*शोध छात्रा, चौधरी चरण सिंह विश्वविद्यालय, मेरठ, उ०प्र०

eky Qj r t x; k x; k u eu dk Qj A
dj dk eudk Mkfj dS eu dk eudk Qj AA

कबीर स्पष्ट रूप कहते हैं— सौ हिन्दू सौ मुसलमान जाका दुरुस रहे ईमान' जिसका कोई ईमान नहीं, वह न हिन्दु है, न मुसलमान। कबीर वाह्याडम्बरो की अपेक्षा आचरण की शद्धता और सात्विकता पर बल देते हैं। कबीर नैतिक मूल्यों के पक्षधर ऐसे सन्त कवि थे जो जनता के सच्चे पथ—प्रदर्शक कहे जा सकते हैं। आचरण की पवित्रता का जो मार्ग उन्होंने जनता के लिए उचित बताया उस पर स्वयं चलकर भी दिखाया।

कोई भी साहित्यकार कालजयी तभी हो सकता है जब उसका चिंतन और साहित्य प्रत्येक युग की आवश्यकताओं को पूर्ण करता हो। कबीर इस कसौटी पर पूर्णतया खरे उतरते हैं। कबीर का चिंतन आधुनिक परिप्रेक्ष्य में कई विचारोत्तेजक बहसों का केन्द्र—बिन्दु है। समकालीन समाज में मानवाधिकार ऐसा ही एक मुद्दा है। मानवाधिकार की बहस का आधार है— ऐसे व्यक्तित्व की कल्पना जो हर मनुष्य को आत्म गौरव का बोध कराये। मनुष्य को मनुष्य की तरह जीने का अधिकार ही मानवाधिकार है। वह मानवाधिकार दैवी या किसी शास्त्र द्वारा परिभाषित भेद—भाव को नकार देता है। यह एक नया विकल्प प्रस्तुत करता है जो पदानुक्रम (ऊँच—नीच) की संकल्पना को निरस्त कर विवेक सम्मत, सार्वजनिक और सार्वभौम नैतिकता की अवधारणा को प्रकट करता है— इस दृष्टिकोण से कबीर मध्य काल में ही नहीं बल्कि आज के समय में भी समान रूप से प्रासंगिक है। जहाँ उनका चिंतन एक ओर व्यक्तिवाद का समर्थन करता दिखाई देता है वहीं उनकी सामाजिक आलोचना उनके युगबोध का दर्पण है— इस प्रकार कर्तव्य और अधिकार का सम्यक बोध आज के समय में और भी प्रासंगिक हो उठते हैं।

I UnHKz %

1. शर्मा. राम किशोर; कबीर ग्रंथावली, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ0 644
2. शर्मा. राम किशोर; वही, पृ0 640
3. वही, पृ 602
4. मिश्र. शिव कुमार, 2001; भक्ति आन्दोलन और भक्ति काव्य, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ0 57
5. वही, पृ0 51

Hkkjr ea nfyf o\$pkfj dh dh i kl fxdrk % , d fo' y\$'k. kkRed v/; ; u l q/khj f=i kBh*

जाति का सवाल भारतीय समाज को बदलने की चाह रखने वालों की दृष्टि में एक अहम सवाल नहीं बन पाया। वर्गविहीन समाज की परिकल्पना की तरफ ही उनका ध्यान गया। भारत के संदर्भ में, जाति उन्हें उतनी मुख्य नहीं लगती थी जितना वर्गीय शोषण और सांप्रदायिक उन्माद। जबकि आजादी के आंदोलन के समय से ही डॉ. अंबेडकर जातिमुक्त समाज की परिकल्पना प्रस्तुत कर रहे थे। भारतीय समाज का विश्लेषण करते हुए वे इस निष्कर्ष तक जा पहुंचे थे कि—

किसी भी दशा में मुड़ जाएं जाति का दैत्य आपके रास्ते में खड़ा मिलेगा। इस दैत्य को बिना मारे न तो कोई राजनैतिक सुधार संभव है और न ही आर्थिक सुधार।¹

चूंकि भारतीय समाज में पग-पग पर, जाति की व्यवस्था और वर्चस्वता विद्यमान है। धर्म ने इस जाति-प्रथा की जड़ों को इतना गहरा करके इंसान के रग-रग में बसा दिया है कि इसके खिलाफ मुहिम चलाए बिना कोई भी परिवर्तन मुकम्मल रूप नहीं ले सकता। बिना किसी एकता और सामूहिक प्रयास के आंदोलन भी चलाना मुश्किल है। जाति भारत में मनुष्य-मनुष्य के बीच किसी भी प्रकार की एकता कायम नहीं करने देती। ऐसे में समाज परिवर्तन की परिकल्पना और बेहतर समाज आंदोलन असफल होता रहेगा। इस तथ्य को अपने विश्लेषण के आधार पर डॉ. अंबेडकर ने बहुत पहले ही पहचान कर लोगों को इससे अवगत कराया था। लेकिन यह बात उस समय के समाज परिवर्तनकारियों और चिंतकों के गले नहीं उतर रही थी। अगर समय रहते भारत के मुक्ति आंदोलन में इस सवाल को भी शामिल कर लिया होता और भारत के मार्क्सवादी इस पर समझ बना पाए होते तो संभवतः भारत की तस्वीर आज कुछ अलग ही होती।

*प्रवक्ता, बी०एन०बी० इण्टर कालेज, मड़ियाहूँ, जौनपुर, उ०प्र०

दलित सर्वहारा ही समाज परिवर्तन की दिशा में महत्वपूर्ण एवं निर्णायक भूमिका निभाएगा। इस विफलता का कारण बताते हुए सामाजिक चिंतक आदित्य निगम कहते हैं—“ऊँची जातियों से आने वाला मार्क्सवादी युवक जातिगत शोषण को वर्गीय शोषण में समाहित करके अपने अपराध बोध से तो छुटकारा प्राप्त कर लेता है लेकिन जाति का भारतीय यथार्थ उसकी पकड़ से निकल जाता है। लोकतंत्र को अमूलवादी रुझानों से आवेष्टित करने में दिलचस्पी रखने वाले तत्वों ने भी पूरी तरह से आधुनिक श्रम संबंधों की स्थापना में योगदान नहीं दिया है। दलितों का ग्रामीण सर्वहारा के रूप में देखने की स्वागत योग्य प्रवृत्ति उनके एक छोटे से हिस्से ही में और वह हिस्सा भी जाति के भारतीय यथार्थ को सिद्धांतबद्ध करने के कार्यभार से बचने की कोशिश करता रहता है।”

दक्षिण के महत्वपूर्ण चिंतक नागराज ने मार्क्सवाद और अंबेडकरवाद पर गहन चिंतन किया। उनकी असमय मृत्यु हो गई। अंबेडकरवाद और मार्क्सवाद के बारे में उनका कहना था— “पूँजीवाद की आर्थिक और राजनीतिक संरचना की व्याख्या तो पश्चिम के समाज विज्ञान ने की, पर उसके जातीय और सांस्कृतिक आधार की विवेचना करना तीसरी दुनिया के दलित बहुजन बुद्धिजीवियों का कर्तव्य है।”³

नागराज ने ‘फुले एवं अंबेडकर’ के विचारों का गहन अध्ययन किया था साथ ही उन्होंने मार्क्सवाद को भी अपनाया था। भारत के संदर्भ में वे दलित बहुजन सैद्धांतिकी को अनिवार्य मान रहे थे।

गेल ओमवेट एक प्रमुख समाजशास्त्री एवं दलित चिंतक मानी जाती हैं। डॉ. अंबेडकर पर विचार करते हुए वह कहती हैं—“विगत सहस्राब्दी के मूल्यांकन के साथ-साथ यह समय नई सहस्राब्दी के लिए अपनी आशाओं तथा आकांक्षाओं को आकार देने का है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि अंबेडकर इस प्रयास में सबसे महत्वपूर्ण व्यक्तित्व के रूप में हमारे सामने आते हैं। दलितों तथा भारतीय समाज में दलितों की भूमिका का प्रचार-प्रसार हो रहा है और भविष्य में जब लोग उन यंत्रणाओं और परिवर्तनों का स्मरण करेंगे, जिनसे भारतीय समाज को गुजरना पड़ा है और वैश्विक समाज के निर्माण में इस समाज के लोगों के योगदानों के बारे में सोचेंगे, तो उन्हें स्वीकार करना होगा कि बाबा साहब अंबेडकर ही वैश्विक-भारतीय विरासत के सर्वोत्तम प्रतिनिधि हैं।

गेल ओमवेट आज भी डॉ. अंबेडकर एवं दलित बहुजन विचार की प्रासंगिकता मानती हैं। उनका कहना है कि—“इसके बिल्कुल विपरीत अंबेडकर

ने उन्नति में विश्वास व्यक्त किया है तथा इतिहास को सामाजिक दृष्टि से न्यायपरक समाज की ओर उन्मुख एक गति माना है। उन्होंने पूर्व तथा पश्चिम के मामूली भेद की ओर आकर्षित होने की लेश मात्र भी प्रवृत्ति नहीं दिखाई। उन्होंने उद्योगीकरण, पूर्वकाल के जीवन के रोमनीकरण तथा 'सामान्य आवश्यकताओं' की नैतिकता का जवाब बहुत पहले ही 1918 में बरट्रेट की एक पुस्तक की समीक्षा करते हुए दे दिया था—“पैसे के प्रेम के प्रति नैतिकतावादियों की सदियों पुरानी शिकायत सांसारिक धन—सम्पत्ति के प्रति उनके सामान्य विरोध का एक हिस्सा ही है। जिन आर्थिक परिस्थितियों के कारण इस विशेष सोच का जन्म हुआ, उनसे ही इसका औचित्य सिद्ध होता है। ऐसे समय में, जब पूरा विश्व कष्टपूर्ण अर्थव्यवस्था में प्राचीन संसार वाला जीवन जी रहा था और मानव श्रम की उत्पादकता बहुत ही निम्न थी और उसे किसी भी प्रकार के प्रयास से उठाना संभव नहीं था यानी संक्षेप में कहें तो जब पूरी दुनिया गरीबी का जीवन जी रही थी, यह एकदम स्वाभाविक था कि नैतिकतावादी गरीबों को धर्म का उपदेश दे और सांसारिक सुखों के त्याग की बात करें क्योंकि उन्हें (धन—सम्पत्ति) प्राप्त किया ही नहीं जा सकता था।”⁴

दलित चिंतक गोपाल गुरु का कहना है कि—“अगर दलित खुद को इतिहास की चालक शक्ति मानते हैं तो उन लोगों या तबकों को छोड़कर कैसे जा सकते हैं जो उन्हीं की भांति अवमानना के खिलाफ संघर्ष कर रहे हैं।”⁵

डॉ. अंबेडकर स्पष्ट कहते हैं कि—“जब तक वर्गविहीन समाज की स्थापना नहीं हो जाती, तब तक स्वतंत्रता का महत्व नहीं है।”⁶

I UnHkz %

1. Ambedkar, B.R.; Annihilation of caste, p. 47.
2. आधुनिकता के आइने में दलित, संपादक : अभय कुमार दूबे, लेखक : आदित्य निगम, पृ. 154.
3. वही, पृ. 15.
4. छलित दर्शन, संपादक : रमणिका गुप्ता, पत्रिका पूर्णांक, पृ. 27—28
5. आधुनिकता के आइने में दलित, संपादक : अभय कुमार दूबे, लेखक : गोपाल गुरु, पृ. 108.
6. बाबा साहेब ने कहा था, संपादक : मोहनदास नैमिषराय, ए.आर. अकेला, पृ. 47.

हकीर एनफर वलुंनसु दक बरग्ल % , d , frgkfl d voykdu jkds'k d'ekj fl g*

प्रस्तुत शोध-पत्र दलित आन्दोलन के इतिहास को उद्घाटित करता है। जो द्वितीयक स्रोतों पर आधारित है। यह अध्ययन दलित आन्दोलन (सन् 1930-1936) में अम्बेडकर की अहम भूमिका को स्पष्ट करता है।

1930 में नागपुर में आल इंडिया डिप्रेस्ड क्लास लीग का सम्मेलन हुआ। अम्बेडकर का पहले गोलमेज सम्मेलन में भाग लेना, उनकी गाँधी के साथ झड़प, दूसरा गोलमेज सम्मेलन, जिसका परिणाम 1932 का पूना समझौता था, में उनकी भागीदारी और 1935 में धर्मांतरण की प्रसिद्ध घोषणा-सभी कुछ भविष्य की घटनाओं को प्रभावित करने वाला था। उनका वह वाक्य कि मैं हिन्दू पैदा जरूर हुआ था, पर हिन्दू मरूंगा नहीं उनकी मनोदशा का परिचायक था। 1930-32 की घटनाओं ने अम्बेडकर को हिन्दू धर्म के प्रति, अंततः तोड़ दिया था। कांग्रेस नेतृत्व के श्रेष्ठ सुधारवादियों के प्रति भी उनका मोह भंग हो गया था। साथ ही इन घटनाओं ने दलित आन्दोलन तथा डॉ० अम्बेडकर की बढ़ती ताकत को महसूस करा दिया था। यह भी सिद्ध हो गया था कि डॉ० अम्बेडकर दलितों के निर्विवाद नेता हैं। इसीलिए कांग्रेस को उनकी मांगों को सुनना पड़ा।

भारत का जाति-वर्ग शोषण का समाज (जिसे अम्बेडकर ने ब्राह्मणवादी-पूँजीवादी समाज का नाम दे दिया था) को देखते हुए दलितों के लिए एक वैकल्पिक वैचारिकी तथा वैकल्पिक संगठन आवश्यक था।'

तार्किक और निरपेक्ष दृष्टि को स्वीकार करते हुए अम्बेडकर के लिए यह स्वाभाविक था कि वे वामपंथ की ओर मुड़ते। मार्क्सवाद के पास शोषण के लिए एक सिद्धांत था और उससे मुक्ति के लिए एक कार्यक्रम।

*शोध छात्र, इतिहास विभाग, वीर कुँवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा, बिहार

वैसे भी मार्क्सवाद अपने कार्यक्रमों के माध्यम से भारत में पैर पसार रहा था। यद्यपि मार्क्सवाद ने जिन बातों पर अपनी प्रतिक्रिया दी, और उनमें से कुछ को उन्होंने स्वीकार भी किया पर मार्क्सवादी मुद्दों के होते हुए भी समस्याओं का विकल्प नहीं पाया। 1930-35 की इस अवधि में यह असफलता भी स्पष्ट थी।

अम्बेडकरवाद अधूरी विचारधारा का था, सम्भवतः इसलिए कि वह एक व्यक्तिगत विचारधारा थी। मार्क्सवाद बुरी तरह उलझा हुआ था, उनके लिए ऐतिहासिक भौतिकवाद, जिसकी अवधारणा मार्क्स और एंजल्स ने तैयार की थी, की पूरी परिस्थितियाँ, भारत में नहीं थीं।²

इसके बावजूद यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि दलित आन्दोलन विस्तृत क्षेत्रों में फैला हुआ आन्दोलन था और जिसका उद्देश्य शोषण तथा दमनकारी व्यवस्था को बदलना था। अतः आन्दोलन जाति व्यवस्था विरोधी था। संगठन तथा उसकी विचारधारा में धीरे-धीरे वृद्धि हो रही थी।

दलित आन्दोलनों के उभरने के लिए चार तथ्य महत्वपूर्ण थे—

1. संगठनात्मक दृष्टि से और वित्तीय संसाधनों की दृष्टि से कमजोर ये दलित आन्दोलन, उसी समय उभर रहे थे जब गैर-ब्राह्मण तथा श्रमिक वर्ग आन्दोलन भी उभर रहे थे। गैर-ब्राह्मण, मजदूर तथा किसानों संगठन अपने आपको मजबूत कर रहे थे।

2. गैर-ब्राह्मण तथा किसान मजदूर आन्दोलनों की मुख्य शक्ति 1930 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के पास चली गई। इसका परिणाम यह हुआ कि कांग्रेस वास्तव में 1940 के आसपास, साम्राज्यवाद विरोधी संयुक्त मोर्चे के रूप में परिवर्तित हो गई।

3. कांग्रेस के एक राजनीतिक विकल्प को तैयार करने में, गैर-ब्राह्मण के साथ गठबन्धन में (दलित बहुजन अथवा शूद्र-अतिशूद्र गठबन्धन) किसान मजदूरों को संगठित करने में, जाति व्यवस्था को नष्ट करने में केवल अम्बेडकर तथा ज्योतिबा फुले द्वारा स्थापित परम्परा का निर्वाह किया जा रहा था।

4. अम्बेडकर द्वारा 'गैर-आर्यवादिता' का विषय तथा 'दलित मूल निवासी' की अवधारणा को नकारना महत्वपूर्ण था। इसी प्रकार

प्रजातीय स्पष्टीकरण और ऐतिहासिक भौतिकवाद के स्पष्टीकरण को नकारना भी महत्वपूर्ण था।

8 अगस्त 1930 को लन्दन में पहले गोलमेज सम्मेलन के लिए तैयारी के समय अम्बेडकर नागपुर में अखिल भारतीय दलित वर्ग सम्मेलन में भाग लेने गए। उनके अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने आगामी दशक में होने वाले संघर्षों के मुद्दों को स्पष्ट किया था।³ उन्होंने राष्ट्रीय स्वतंत्रता की आवश्यकता पर जोर देते हुए अपना अध्यक्षीय भाषण प्रारम्भ किया।

उन्होंने कहा— मैं जितने संक्षिप्त में अपने विचार बिन्दु प्रस्तुत कर सकता हूँ, करूंगा। भारत की इस नौकरशाही सरकार को हटा देना चाहिए तथा उसके स्थान पर जनता की सरकार स्थापित होनी चाहिए। यह सरकार जनता द्वारा, जनता के लिए और जनता की होगी। कुछ मुल्कों में दलित लोगों द्वारा दिया गया यह बयान आश्चर्य अवश्य पैदा करेगा... हमने यह निर्णय इसलिए नहीं किया है कि हम अपना भाग्य बहुमत को सौंपना चाहते हैं। बहुमत तथा अल्पमत जिसका मैं प्रतिनिधि हूँ, के बीच किसी प्रकार का प्रेम रह नहीं गया है। हमारा यह एक स्वतंत्र निर्णय है। हमने वर्तमान स्थिति को अपनी ही परिस्थितियों में हाँकने का प्रयास किया है तथा हमारी इच्छा है कि ऐसा हो।⁴

यह तर्क देते हुए कि ब्रिटिश लोगों की सदिच्छा अप्रासंगिक है उन्होंने कहा— भारत सरकार यह अनुभव करती है कि भारतीय समाज की जड़ों को खाय जा रहा है। सामाजिक बुराइयों को समाप्त करना चाहिए। इन बुराइयों ने वर्षों से निम्न दलित वर्गों के जीवन को दूभर बनाकर रखा है। भारत सरकार यह भी अनुभव करती है कि जमींदार कृषकजनों को सूखे ही निचोड़ रहे हैं तथा पूँजीपति अपने श्रमिकों को न तो उचित मजदूरी दे रहे हैं और न ही उनके काम करने की व्यवस्थाएं अच्छी हैं। लेकिन सबसे दर्दनाक बात यह है कि इसमें इन बुराइयों को छूने तक की हिम्मत नहीं जुटाई है। ऐसा क्यों? ये सवाल वे सवाल हैं जिसे दलित वर्ग उठा रहा है... हमारी मान्यता है कि कोई भी और यहां तक कि हम भी इन शिकायतों को दूर नहीं कर सकते, जब तक की हमारे खुद के हाथों में राजनीतिक सत्ता नहीं आती। जब तक ब्रिटिश सरकार यहा मौजूद है तब तक तो यह सत्ता हमारे हाथों में नहीं

आ सकती। और जब तक यह सत्ता नहीं आएगी, हमारे लोगों का भला हो नहीं सकता हम जानते हैं कि सत्ता ब्रिटिश लोगों के हाथों में जा रही है जिनके पास हमारे अस्तित्व को प्रभावित करने वाली अपार सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक शक्ति है। हम चाहते हैं कि ऐसा हो, यद्यपि स्वराज का विचार हमें भूतकाल के अत्याचारों, दमन तथा अन्यायों की याद दिला देता है जो हमारे ऊपर हुए है।⁵

पहले गोलमेज सम्मलेन के बाद सिविल नाफरमानी आन्दोलन वापस ले लिया गया। गाँधी-इरविन समझौता हुआ तथा दूसरे गोलमेज सम्मेलन में गाँधीजी शामिल हुए। गाँधी की यह भागीदारी राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रतिष्ठा की सूचक थी और उनका दावा था कि भारतीय जनता के सच्चे एकमात्र प्रतिनिधि वही थे, लेकिन वहाँ जो हुआ वह अद्भुत था। दूसरे सम्मेलन और रैमजे मैक्डोनाल्ड की (अलग निर्वाचन मण्डल) घोषणा पर अम्बेडकर और गाँधी के बीच विवाद प्रारम्भ हुआ।⁶

इन दो सम्मेलनों के बीच की अवधि में अगस्त 1931 में लन्दन में अम्बेडकर की मुलाकात गाँधीजी से हुई। यह मुलाकात विक्षुब्ध वातावरण में हुई। बी०सी० काम्बले के वर्णन के अनुसार गाँधी ने इस दौरान सामान्य नम्रता का व्यवहार भी नहीं किया। अम्बेडकर ने कांग्रेस की निन्दा की और अपने तीखे वक्तव्यों के बाद वे उस प्रसिद्ध वाक्य 'महात्मा जी मेरा कोई देश नहीं है' को कह कर, उठकर बाहर चले गए।⁷ यह संवाद नहीं था अपितु झगड़ा था। सम्मेलन में एक बार फिर विवाद उठा। दोनों ही नेता भावुक तथा जोरदार तरीके से अपने दृष्टिकोणों को रख रहे थे तथा आश्वस्त थे कि जनता उनके पक्ष में है। दोनों ही दावा कर रहे थे कि वे अस्पृश्यों के प्रतिनिधि हैं पर दोनों के दृष्टिकोणों में बड़ा अन्तर था। अम्बेडकर इस बात पर जोर दे रहे थे कि दलितों को राजनीतिक शक्ति दी जानी चाहिए। गाँधी, सुधार तथा दलितों को ऊपर से सुरक्षा दिए जाने के पक्ष-में थे। विधायकों के चुनावों की अपेक्षा दलितों को सामाजिक तथा धार्मिक प्रतिबंधों से मुक्ति सबसे बड़ी आवश्यकता है।⁸ इस सारी बहस का भावनात्मक पक्ष वस्तुतः इस विषय पर गहरे मतभेद की ओर इशारा करता है।

I UnHk%

1. ओमवेट गेल, 2009; दलित और प्रजातांत्रिक क्रांति; अनुवादक-नरेश भार्गव, रावत पब्लिकेशन, जयपुर, पृ0 155
2. वहीं, पृ0 155-156,159
3. गन्जारे, एम.पी. (सम्पादक), 1974; डॉ0 बाबा साहेब अम्बेडकर भाषणे, खण्ड-2, अशोक प्रकाशन, नागपुर, पृ0 57-90
4. ओमवेट गेल, 2009; वहीं पृ0 161
5. मून बसन्त, डॉ0 बाबा साहेब अम्बेडकर, राइटिंग्स एण्ड स्पीचेज, खण्ड-2, (गवर्नमेन्ट ऑफ महाराष्ट्र एजुकेशन डिपार्टमेंट, बम्बई, 1982) पृ0 503-6
6. ओमवेट गेल; 2009; वहीं पृ0 162
7. काम्बले बी.सी. 1987 समग्र अम्बेडकर चरित्र, भाग-7, बम्बई, पृ0 82-92, इन्हे भी देखें-टाइम्स ऑफ इण्डिया, 18 अगस्त 1931-सोर्स, मैटेरियल आन डॉ0 बाबा साहेब अम्बेडकर एण्ड मूवमेंट ऑफ अनटचेबिल्टी, खण्ड-1, (गवर्नमेंट ऑफ महाराष्ट्र, बम्बई, 1982) पृ0 52 पुनर्मुद्रित
8. राइटिंग्स एण्ड स्पीचेज, खण्ड-11, पृ0 66

efgyk mRi hMtu dh i pfUk , oa l ek/kku dk l ektoKkfud v/; ; u MKND eatw Hkkj rh*

महिलाओं का उत्पीड़न उतना ही प्राचीन है जितना कि पारिवारिक जीवन का इतिहास। यद्यपि सामाजिक विधान के परिप्रेक्ष्य में भारतीय महिलाएँ अन्य कई देशों की महिलाओं से कहीं आगे हैं, किन्तु महिलाओं को अधिकार प्रदान करने की प्रक्रिया इतनी मन्द, अव्यवस्थित एवं असंगत रही है कि सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक रूप से वे पुरुषों से काफी पीछे हैं। आज की स्त्री बराबरी के वैधानिक अधिकार पाकर भी जैसे वही सदियों पुरानी स्त्री है।¹ न केवल काम में उनके साथ भेदभाव किया जाता है परंतु प्रत्येक क्षेत्र में उनको अधिकारों से वंचित रखा जाता है। महिलाओं ने शैक्षणिक, राजनैतिक, वैधानिक एवं आर्थिक क्षेत्रों में स्वतंत्रता पश्चात् जितना पाया, सामाजिक और पारिवारिक क्षेत्र में उतना ही खो दिया है।² महिला भ्रूण हत्या और महिलाओं के खिलाफ हिंसा की घटनाएँ नहीं होती तो इस समय दुनिया में औरतों की आबादी छह करोड़ ज्यादा रहती।³ अनेकानेक स्थितियाँ, व्यवहार और क्रियाएँ जो कि उत्पीड़न को परिभाषित कर सकती थीं, महिलाओं के संदर्भ में वे व्यावहारिक, नैतिक अथवा प्राकृतिक मान ली गयी।⁴ महिलाओं की स्थिति पर नजर डाले तो आक्सफाम की एक रिपोर्ट के अनुसार साउथ एशिया में लगभग 50 प्रतिशत से अधिक महिलायें प्रतिदिन दैनिक जीवन में घरेलू हिंसा से पीड़ित होती हैं और यदि साउथ एशिया के ही कुछ देशों की महिलाओं की स्थिति पर नजर डाले तो पाकिस्तान में 80 प्रतिशत, अफगानिस्तान में 50 प्रतिशत, बंगलादेश में 60 प्रतिशत और भारत में 37 प्रतिशत महिलायें ऐसी हैं जो प्रतिदिन अपने दैनिक जीवन में, घरेलू हिंसा से पीड़ित हैं और पूरे विश्व में महिलाओं की स्थिति यह है कि प्रत्येक 3 महिलाओं पर एक महिला को या तो मार दिया जाता है या घायल कर दिया जाता है। भारत में महिलाओं की संख्या कुल जनसंख्या का लगभग आधा है लेकिन उन

*असिस्टेंट प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग, आचार्य नरेन्द्रदेव नगर निगम महिला महाविद्यालय, कानपुर, उ.प्र.

महिलाओं की संख्या बहुत ही कम होगी जो बिलकुल हिंसा मुक्त होंगी। क्योंकि हमारे देश की ज्यादातर महिलायें किसी न किसी प्रकार की हिंसा से ग्रसित हैं, चाहे वह घरेलू हिंसा हो या सामाजिक।⁵

उत्पीड़न सामान्यतः एक व्यक्ति द्वारा किया गया ऐसा कार्य या व्यवहार है, जिससे दूसरे व्यक्ति को कष्ट पहुँचता हो, शाब्दिक दृष्टिकोण से उत्पीड़न यानि (Oppression) शब्द का अर्थ है— एक व्यक्ति के मस्तिष्क व भावनाओं का दमन तथा दुःख दर्द, क्लेश और अभाग्य द्वारा उस पर दबाव की स्थिति, परेशान करने या पीड़ित करने की भावना, अपने अधीन या आश्रित के साथ अनुचित व निर्दयी व्यवहार, गलत व कठोर तरीके से सत्ता व शक्ति का प्रयोग, बलपूर्वक दबाने या रोकने की क्रिया तथा एक महिला का बलपूर्वक उत्पीड़न यथा बलात्कार आदि।

इसके अतिरिक्त उत्पीड़न को विविध संदर्भों में भी समझा जा सकता है यथा— भेदभाव, हिंसा, क्रूरता, शोषण, क्लेश देना या पीड़ा पहुँचाना, छेड़छाड़ या हमला करना तथा उत्पीड़न के संदर्भ में प्रयुक्त किया गया है। उत्पीड़न यानी निर्दयता, कठोरता तथा अत्यधिक दुःख के संदर्भ में प्रयुक्त किया गया है।

सामान्यतः समाजशास्त्र में उत्पीड़न की कोई सहज और सुनिश्चित अवधारणा व्याख्या नहीं दी गई है अपितु अनेकानेक विद्वानों ने इसके स्थान पर शोषण और हिंसा शब्द का प्रयोग अधिक किया है।

राम आहूजा ने अपने अध्ययन में उत्पीड़न को अपराध और हिंसा के संदर्भ में देखते हुए इसे महिलाओं के विरुद्ध अपराध के रूप में विवेचित किया है— (अ) अपराध, (ब) महिलाओं के विरुद्ध।

द्वितीय प्रत्यय केवल उन व्यवहारों या अपराधों को व्यक्त करता है जो स्त्रियों के विरुद्ध है तथा प्रथम प्रत्यय उन क्रियाओं को व्यक्त करता है जो कानूनी तौर पर प्रतिबंधित इच्छापूर्वक अपराध करने और न्यायालय द्वारा दंडनीय हो।⁶

उत्पीड़न के संदर्भ से ही हम 'महिला उत्पीड़न' की स्थिति की समीक्षा नहीं कर सकते हैं क्योंकि यहाँ प्रश्न केवल उत्पीड़न का न होकर 'महिला उत्पीड़न' का है जो कि इसे स्वयं ही अनेकानेक सामाजिक और सांस्कृतिक आयामों से जोड़ देता है। फलतः अनेकानेक स्थितियाँ, व्यवहार और क्रियाएँ जो कि उत्पीड़न को परिभाषित कर सकती थीं, महिलाओं के संदर्भ में वे व्यावहारिक, नैतिक अथवा प्राकृतिक मान ली गयीं।⁷

v/; ; u dh l eL; k

अध्ययन की समस्या "efgyk mRi hMµ dh iɔfUk , oa l ek/kku dk l ektoKkfud v/; ; u" करना है।

v/; ; u dk mÍs ;

1. महिला उत्पीड़न की प्रवृत्ति का पता लगाना है।
2. महिला उत्पीड़न को रोकने के कारकों को ज्ञात करना।

ifjdYi uk, j

प्रस्तुत अध्ययन में निम्नलिखित परिकल्पनाओं का परीक्षण किया गया—

1. महिला उत्पीड़न की प्रवृत्ति शारीरिक की अपेक्षा व्यंग्यात्मक अधिक होती है।
2. महिला उत्पीड़न तब तक प्रभावी बना रहेगा जब तक महिलाएँ कानूनों के प्रति जागरूक नहीं होगी।

v/; ; u fof/k

वर्तमान अध्ययन वर्णनात्मक शोध अभिकल्प पर आधारित है।

v/; ; u l ksr

अध्ययन से सम्बन्धित तथ्यों के संकलन हेतु वैज्ञानिक स्रोतों में प्राथमिक एवं द्वैतीयक स्रोतों का प्रयोग किया गया है। ikFkfed l ksr के अन्तर्गत एक साक्षात्कार अनुसूची का निर्माण किया गया, जिसमें अध्ययन से सम्बन्धित प्रश्नों की सूची तैयार कर साक्षात्कार के माध्यम से भरी गई। }\$h; d l ksr के अन्तर्गत अध्ययन से सम्बन्धित ग्रन्थों, सरकारी रिपोर्टों, पत्र-पत्रिकाओं को सम्मिलित किया गया, जिनसे अध्ययन सम्बन्धी महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त की गई।

l exl , oa U; kn' kZ

अध्ययन का समग्र वाराणसी नगर है। न्यादर्श हेतु व्यवस्थित न्यादर्श (Systematic Sampling) विधि द्वारा 300 उत्तरदात्रियों का चयन किया गया है।

fo' y\$'k. k , oa 0; k[; k %

mRi hMµ dh iɔfUk

उत्तरदाताओं से जानकारी प्राप्त की गयी कि उनके अत्याचार उत्पीड़न की प्रवृत्ति क्या है? उत्तरदाताओं से प्राप्त तथ्यों को निम्न सारणी में दर्शाया गया है—

I kj .kh I a[; k & 1
efgyk mRi hMtu dh i dfUk

fooj .k	vkofUk	i fr'kr
पिटार्ई करना	81	27.00
भूखा रखना	33	11.00
शारीरिक छेड़छाड़	87	29.00
अपशब्द कहना	99	33.00
; ksx	300	100-00

सारणी के अवलोकन से स्पष्ट है कि 27.00 प्रतिशत उत्तरदाताओं के अत्याचार उत्पीड़न की प्रवृत्ति पिटार्ई करना है। 11.00 प्रतिशत उत्तरदाताओं के अत्याचार उत्पीड़न की प्रवृत्ति भूखा रखना है। 29.00 प्रतिशत उत्तरदाताओं के अत्याचार उत्पीड़न की प्रवृत्ति शारीरिक छेड़छाड़ है तथा 33.00 प्रतिशत उत्तरदाताओं के अत्याचार उत्पीड़न की प्रवृत्ति अपशब्द कहना है।

efgykvka ds i fr c<rh fga k dks jkdus ds dkj d

उत्तरदाताओं से जानकारी प्राप्त की गयी कि महिलाओं के प्रति बढ़ती हिंसा को रोकने के लिए कौन सा कारक सहायक है? उत्तरदाताओं से प्राप्त तथ्यों को निम्न सारणी में दर्शाया गया है –

I kj .kh I a[; k & 2

efgykvka ds i fr c<rh fga k dks jkdus ds dkj d

fooj .k	vkofUk	i fr'kr
शिक्षित होना	33	11.00
आत्म निर्भर होना	75	25.00
रोजगार परक होना	57	29.00
कानूनों के प्रति जागरूक होना	135	35.00
; ksx	300	100-00

सारणी के अवलोकन से स्पष्ट है कि 11.00 प्रतिशत उत्तरदाताओं के अनुसार महिलाओं के प्रति बढ़ती हिंसा को रोकने का कारक उच्च शिक्षा का होना है। 25.00 प्रतिशत उत्तरदाताओं के अनुसार महिलाओं के प्रति बढ़ती हिंसा को रोकने का कारक आत्म निर्भर होना है। 29.00 प्रतिशत उत्तरदाताओं के अनुसार महिलाओं के प्रति बढ़ती हिंसा को रोकने का कारक रोजगारपरक होना है। 11.00 प्रतिशत उत्तरदाताओं के अनुसार महिलाओं के प्रति बढ़ती हिंसा को रोकने का कारक कानूनों के प्रति जागरूक होना है।

fu"d"kz %

अधिकांश 33.00 प्रतिशत उत्तरदाताओं के अत्याचार उत्पीड़न की प्रवृत्ति अपशब्द कहना है। अध्ययन में हमारी उपकल्पना "महिला उत्पीड़न की प्रवृत्ति शारीरिक की अपेक्षा व्यंग्यात्मक अधिक होती है" प्रमाणित होती है। अधिकांश 35.00 प्रतिशत उत्तरदाताओं के अनुसार महिलाओं के प्रति बढ़ती हिंसा को रोकने का कारक कानूनों के प्रति जागरूक होना है। अध्ययन में हमारी उपकल्पना "महिला उत्पीड़न तब तक प्रभावी बना रहेगा जब तक महिलाएँ कानूनों के प्रति जागरूक नहीं होगी" प्रमाणिक सिद्ध होती होती है। महिलाओं को उत्पीड़न मुक्त जीवन के लिए जागरूक होने की आवश्यकता है। महिलाओं के हितार्थ निर्मित विभिन्न कानूनों और विधानों के प्रति उनकी जागरूकता की कमी है। वैयक्तिक स्तर पर महिलाएँ शिक्षित होकर, आत्म विश्वास में वृद्धि कर, आत्मनिर्भर होकर, स्वास्थ्य के प्रति सजग होकर, कानूनों के प्रति जागरूक होकर अपने प्रति हिंसा का प्रतिरोध कर सकती हैं। सामाजिक रूप से पारिवारिक सदस्यों के सहयोग तथा व्यवहार के द्वारा महिलाओं पर होने वाले उत्पीड़न एवं शोषण को कम किया जा सकता है। समुचित और त्वरित न्याय की व्यवस्था कर महिलाओं को सम्बल प्रदान किया जा सकता है।

I UnHkz %

1. ढ्वोरा, आशारानी, 2011; औरत, कल, आज और कल, कल्याणी शिखा परिषद्, नई दिल्ली, पृ0 187.
2. ढ्वोरा, आशा रानी, 2005; भारतीय नारी: अस्मिता और अधिकार, पृ0 17.
3. अमर उजाला, 2 जून, 2000.
4. मंजुलता, 2007; अनुसूचित जाति में महिला उत्पीड़न, अर्जुन पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ0 22.
5. प्रधान, बिजेन्द्र एवं वर्मा, टिक्कम दास, 2012; महिलाओं का अधिकार-हिंसा मुक्त जीवन, इण्डियन स्ट्रीम रिसर्च जर्नल, फरवरी, वाल्यूम-2, अंक-1.
6. राम आहूजा, 1987; क्राइम अगेंस्ट वुमन, रावत पब्लिकेशन, जयपुर, पृ0 165-186.
7. मंजुलता, 2007; अनुसूचित जाति में महिला उत्पीड़न, अर्जुन पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ0 24.

efgyk I 'kfDrdj .k&, d uohu fo' y'sk.k xki ky N".k 'kek'

प्रस्तुत शोध पत्र में महिलाओं की स्थिति की संक्षेप में चर्चा करते हुए उनके सशक्तिकरण की आवश्यकता, शासन द्वारा महिला सशक्तिकरण की दिशा में किए जा रहे प्रयास और इसमें आने वाली चुनौतियों पर प्रकाश डाला जाएगा।

भारतीय समाज में महिलाएं एक लम्बे काल से अवमानना, यातना, और शोषण का शिकार रहीं हैं। मानव संसाधन मंत्रालय के महिला एवं बाल विकास विभाग के एक प्रतिवेदन के अनुसार 'भारत में प्रत्येक 54 मिनट में एक महिला का बलात्कार, 51 मिनट में एक छेड़छाड़, 26 मिनट में बदसलुकी, 102 मिनट में दहेज के कारण हत्या होती है।'

efgyk I 'kfDrdj .k dk vk'k; , oamnns ; % महिला सशक्तिकरण का तात्पर्य है, सामाजिक सुविधाओं की उपलब्धता राजनैतिक और आर्थिक नीति निर्धारण में भागीदारी समान कार्य के लिए समान वेतन के लिए कानून के तहत सुरक्षा एवं प्रजनन अधिकारों आदि को इसमें सम्मिलित किया जाता है। सशक्तिकरण का अर्थ किसी कार्य को करने या रोकने की क्षमता से है। जिसमें महिलाओं को जागरूक करके उन्हें आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, शैक्षिक और स्वास्थ्य संबंधित साधनों को उपलब्ध कराया जाये। ताकि उनके लिए सामाजिक न्याय और पुरुषों महिलाओं का समानता का लक्ष्य हासिल हो सकें। संक्षेप में महिला सशक्तिकरण की राष्ट्रीय नीति का उद्देश्य महिलाओं की प्रगति, विकास एवं आत्म-शक्ति को सुनिश्चित करना है।

Ekgfyk I 'kfDrdj .k ea vkus okyh ck/kk, j& वे बाधाएँ या समस्याएं जिनका महिलाओं के ऊपर विशेष रूप से दुष्प्रभाव पड़ता है इस प्रकार हैं— निर्धनता और आर्थिक विषमता, स्वास्थ्य और कुपोषण, अशिक्षा,

*सहायक प्राध्यापक, विधि विभाग, जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर, म.प्र.

सामाजिक भेदभाव और महिलाओं के विरुद्ध शारीरिक व मानसिक हिंसा, बालिका भ्रूण हत्या और बालिका शिशु हत्या (लिंग पूर्वाग्रह) दहेज हत्या, बाल विवाह, वेश्यावृत्ति, महिलाओं की पुरुषों पर निर्भरता, मानवाधिकारों का हनन और पर्यावरण का दुष्प्रभाव, लैंगिक अनुपात में महिलाओं की घटती संख्या, महिलाओं के कल्याण और विकास हेतु निर्मित सामाजिक विधानों की प्रभावहीनता, ग्रामीण महिलाओं में शोषण और गरीबी, हीनतर सामाजिक प्रस्थिति, कठोर परिश्रम, कल्याण एवं विकास कार्यों की प्रभावहीनता इत्यादि ऐसी समस्याएं हैं जिनका महिलाओं के ऊपर विशेष रूप से प्रभाव पड़ा।⁴

efgyk | 'kfDrdj .k ds o\$kkfud , oa' kkl dh; i z, kl & भारत में महिला सुरक्षा व स्वतंत्रता सम्बन्धी कानूनों की जानकारी का अभाव शोषित होते रहने का एक बड़ा कारण है। इसके अतिरिक्त अन्य कानूनी प्रावधान भी हैं जो महिलाओं की प्रस्थिति को मजबूत बनाते हैं, जिनमें नवीनतम प्रावधान निम्न है— भारतीय तलाक (संशोधन) अधिनियम 2001, परित्यक्ताओं के लिए गुजारा भत्ता (संशोधन) अधिनियम, बालिका अनिवार्य शिक्षा एवं कल्याण विधेयक 2001, घरेलू हिंसा से महिलाओं का संरक्षण अधिनियम 2005, महिलाओं का रात्रि पाली में काम करने के इजाजत देने का मंत्री मण्डल का निर्णय 2005।⁵

उपर्युक्त संवैधानिक प्रावधानों के अलावा भी स्त्रियों के कल्याण से सम्बन्धित अनेक विधानों का निर्माण तथा भारत सरकार द्वारा समय-समय पर अनेक नीतियों का निर्माण भी किया गया। ताकि महिलाओं को विशेष सुरक्षा एवं संरक्षण प्रदान किया जा सके। इनमें से कुछ निम्नलिखित हैं।

1. L=h f'k{k k dks i k&l kgu % राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 की संशोधित शिक्षानीति और इसकी कार्य योजना में महिलाओं की शिक्षा को उच्च प्राथमिकता दी गयी। अनौपचारिक और औपचारिक स्कूली शिक्षा में बालिकाओं के दाखिले और उनकी पढ़ाई जारी रखने। ग्रामीण अध्यापिकाओं की नियुक्ति। पाठ्यक्रम में लिंग भेद हटाने पर बल। नवोदय विद्यालयों में कम से कम एक तिहाई छात्राओं को अवश्य प्रवेश दिलाने वाला आपरेशन ब्लैक बोर्ड। योजना में संशोधित नीतिगत प्रावधानों के अनुसार भविष्य में

अध्यापको की भर्ती में 50 प्रतिशत स्त्रियों की भागीदारी इत्यादि पर सरकार का विशेषध्यान है तथा यू0जी0सी0 द्वारा महिला अध्ययनों, मानवाधिकार आदि को प्रोत्साहन दिया जा रहा है।

2. efgyk , oa cky fodkl % मानव संसाधन मंत्रालय का यह विभाग एक राष्ट्रीय तंत्र के रूप में महिलाओं और बच्चों के लिए कार्यक्रम तथा नीतियां बनाता है तथा देश में महिलाओं और बच्चों के विकास व कल्याण के क्षेत्र में कार्यरत सरकारी और गैर-सरकारी संगठनों के कामकाज और गतिविधियों में तालमेल रखता है।
3. I kekftd I ekurk dh vkj nLrkost % सन् 1971 में केन्द्र सरकार द्वारा देश की महिलाओं की स्थिति पर गठित समिति द्वारा 1974 में टुवर्डस सोशल इक्वालिटी नामक महत्वपूर्ण दस्तावेज में महिलाओं के स्तर के सम्बन्ध में कई मुद्द उठाए गए। केन्द्र सरकार ने राष्ट्रीय संदर्श योजना 1988 – 2000 तैयार की, जिसमें महिलाओं को राष्ट्र की मुख्यधारा में लाने के लिए बहुद्देशीय नीति बनाई गई।
4. jk"Vh; efgyk vk; ksx % 31 जनवरी 1992 को गठित राष्ट्रीय महिला आयोग जो महिलाओं के संवैधानिक और कानूनी सुरक्षा के अधिकारों को ठीक ढंग से लागू कराता है तथा महिलाओं से संबंधित आवश्यक संशोधन और व्यवस्थाओं से संबंधित सुझाव सरकार को देता है। इस तरह पहली बार स्वयं महिलाओं को यह जिम्मेदारी सौंपी गई कि वे अपनी स्थिति का आंकलन करें तथा अपनी स्थिति को सुधारने में अपेक्षित सहयोग दें।
5. efgyk I ek[; k dk; Øe % नीदरलैण्ड सरकार से सहायता प्राप्त महिला समाख्या कार्यक्रम महिलाओं को अधिकार सम्पन्न बनाने की एक परियोजना है इसका उद्देश्य सेवा प्रदान करना ही नहीं अपितु महिलाओं को अपने वारे में सोचने निर्णय लेने तथा महिलाओं की रूढ़िवादी भूमिका के प्रति समाज के विचारों में परिवर्तन लाना है।

6. jk"Vh; efgyk mRFkku uhfr 2001 %महिला सशक्तिकरण हेतु वर्ष 2001 में पहली बार राष्ट्रीय महिला उत्थान नीति बनाई गई ताकि देश में महिलाओं के लिए विभिन्न क्षेत्रों में उत्थान और समुचित विकास भी आधारभूत विशेषताएं निर्धारित किया जाना सम्भव हो सके।

उर्पयुक्त योजनाओं के अतिरिक्त भी महिलाओं के सामाजिक आर्थिक कल्याण हेतु केन्द्र एवं राज्य सरकार द्वारा अनेक योजनाएँ गाँव की बेंटी योजना 2007, प्रतिभा किरण योजना 2007, कन्यादान योजना आदि संचालित की जा रही है।⁸

puksr; k; % इन सभी शासकीय प्रयासों के बावजूद भी महिलाओं की दशा सोचनीय है साथ ही सरकारी योजनाओं का निचले स्तर पर क्रियान्वयन न होने से अपेक्षित सफलता प्राप्त नहीं हो पा रही है। इसके अतिरिक्त सरकार के समक्ष एक चुनौती यह भी है कि भारत में आर्थिक विकास के साथ साथ भारतीय महिलाओं की पारंपरिक छवि बदल गई है परन्तु फिर भी मानव विकास सूचकांक में महिलाओं की शिक्षा, स्वास्थ्य, सामाजिक, आर्थिक, मापदण्ड उनके पक्ष में नहीं आता। सभी क्षेत्रों में महिलाओं को महिलाओं के प्रति संवेदनशील होना होगा, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में समय समय पर आयोजित विभिन्न संगोष्ठियों एवं कार्याशालाओं में महिला सशक्तिकरण संबंधी विचारों में यह बात सिद्ध हो रही है कि महिला सशक्तिकरण वर्तमान समाज की आवश्यकता है तथा इस महत्वपूर्ण मुद्दे पर शासकीय प्रयासों को तथा पूरे समाज को और अधिक सशक्त रूप से कार्य करने की आवश्यकता है, तभी प्रत्येक स्तर पर महिला सशक्तिकरण की एक दृढ़ पहचान हो पायगी।

I Unhkz %

1. मजदूर ए.एम.(1961) सोशल वेलगाथा इन इंडिया, एशिया पब्लिशियन हाउस, मुम्बई
2. स्रोत नीति मार्ग, वर्ष 5, अंक 1-5, मार्च 2004
4. छेवपुरा, प्रताप; कल महिला सशक्तिकरण में शिक्षा का महत्व, कुरुक्षेत्र 2008, पृ 4, 5

5. गोयल ,कु. ममता; महिला सशक्तिकरण हेतु शासकीय प्रयास एवं संभावित उपायों का अध्ययन, शोध समीक्षा और मूल्यांकन, नवम्बर से जनवरी 2009 तक, पृ0 586 एवं बसु, आचार्य डॉ. दुगा दास— भारत का संविधान एक परिचय, वाधवा नागपुर 2012
6. द्विवेदी, पूनम; महिला सशक्तिकरण और वर्तमान कानून, कुरुक्षेत्र, मार्च, पृ0 18—20
7. सारस्वत, ऋतु; भारत में महिलाओं के प्रस्थिति कुरुक्षेत्र मार्च, रजनी रंजन सिंह सामाजिक आर्थिक राजनैतिक परिप्रक्ष्य पृ0 33—34
8. कुमार. नीरज; महिला सशक्तिकरण की कुछ कोशिशें, कुरुक्षेत्र, मार्च, पृ0 9—12

Hkkj rh; | fo/kku , oa | kekftd U; k; MKD vfi rk frokjh*

भारतीय समाज हजारों वर्षों से घोर प्रतिक्रियावादी वर्ण एवं जाति व्यवस्था का शिकार रहा है। डॉ. अम्बेडकर ने संविधान की प्रारूप समिति के अध्यक्ष के रूप में समिति के अन्य सदस्यों के सहयोग से भारत के लिए पश्चिमी उदारवादी विचारों से ओत-प्रोत, समतायुक्त समाज की स्थापना हेतु संविधान में अनेक प्रावधान समाहित किये हैं। भारत का संविधान सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय और व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता और अखण्डता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता बढ़ाने के लिए दृढ़ संकल्प होकर अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित किया है। भारतीय संविधान की प्रस्तावना ही संविधान की आत्मा या सारांश है। यह संविधान के दो तत्त्व स्पष्ट करती है—शासन व्यवस्था के उद्देश्य और उसका स्वरूप। न्यायाधिपति एम. हिदायुल्ला के अनुसार, “प्रस्तावना संविधान की आत्मा है, जिसमें अपने देश की सम्प्रभुता, समाजवाद, धर्मनिपेक्षता तथा लोकतांत्रिक शासन प्रणाली की झलक मिलती है तथा साथ ही यह अपने देश को न्यायिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक सुरक्षा भी प्रदान करती है।”¹

भारतीय संविधान न्याय की परम्परागत अवधारणा को स्वीकार नहीं करके न्याय के आदर्श को मानवीय विकास की मूल आवश्यकताओं के सन्दर्भ में उद्घाटित एवं सन्तुलित करता है। संविधान न्याय की अवधारणा को घिसी-पिटी सामाजिक तथा वैधानिक व्यवस्था के स्थान पर मानव को ‘मुक्ति आन्दोलन’ के साथ जोड़ता है। इस संविधान के किये गये अनेकानेक सामाजिक एवं मानवीय उपबन्धों की माँग है कि मानव को धर्माधारित न्याय की दासता से मुक्त किया जाये। इस नवीन संविधान में उन समस्त प्रचलित धारणाओं एवं विचारों का कानून निषेध कर दिया गया है

*चन्देरी, अशोक नगर, मध्य प्रदेश

जो सामाजिक सम्बन्धों में अमानवीय भेदभावों को बढ़ावा देते हैं। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारतीय संविधान में एक स्वतंत्र एवं निष्पक्ष न्यायपालिका का प्रावधान करने हुए प्रत्येक नागरिक को सस्ता एवं समुचित न्याय दिलाने की व्यवस्था सुनिश्चित की गई है तथा न्यायपालिका को सामाजिक क्रान्ति का एक हथियार बनना है, उस समानता के प्रति वफादार होते हुए जिसके लिये भारतीयों ने उपनिवेशीय काल में लालसा की थी।²

स्वतन्त्र भारत का संविधान हमें विधिक व्यवस्था का एक अभिवृद्ध सकारात्मक एवं गत्यात्मक विचार प्रदान करता है। मौलिक अधिकारों एवं राज्य नीति के निर्देशक तत्त्व व्यापक रूप से हमारे वर्तमान विधि दर्शन की रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं। वी. आर. के. अय्यर के शब्दों में, "न्यायपालिका तथा न्यायिक अंग, राज्य का एक भाग होने के नाते, राष्ट्रीय लक्ष्य तथा राजनीतिक, आर्थिक जनतन्त्र के दृष्टिकोण के साथ सहभागी है और संविधान के अनुच्छेदों एवं भारत के विधि समूहों के आधार पर समतावादी आकांक्षाओं सहित एक धर्मनिरपेक्ष समाज की विविध रूपरेखा को, इस भाँति रुढ़िवादी, सामान्य कानून तथा व्यवस्था की धारणाओं से हटते हुए स्पष्ट करता है।"³

भारतीय संविधान 'एक समाज व्यवस्था' को परिलक्षित करता है, जो समाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को अनुप्रमाणित करेगा। राज्य अपनी नीति का इस प्रकार संचालन करेगा कि सुनिश्चित रूप से—

देश के सभी नागरिकों को समान रूप से आजीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त करने का अधिकार; समुदाय की भौतिक सम्पदा का स्वामित्व और नियन्त्रण इस प्रकार विभाजित हो जिससे सभी का सामूहिक हित सम्भव हो सके; आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार संचालित हो जिससे धन और उत्पादन के साधनों का सर्वसाधारण के लिए अलाभकारी वितरण अथवा एकत्रीकरण न हो; महिला और पुरुष दोनों को समान कार्य के लिए समान वेतन की व्यवस्था की जाये; महिला और पुरुष कामगारों के स्वास्थ्य और शक्ति का तथा बालकों की सुकुमार अवस्था का दुरुपयोग न हो और आर्थिक आवश्यकताओं से मजबूर होकर नागरिकों को ऐसे व्यवसायों में न

जाना पड़े जो उनकी आयु या सामर्थ्य के प्रतिकूल हों; बालकों को, स्वतन्त्र और गरिमामय वातावरण में स्वस्थ विकास के अवसर और सुविधाएँ दी जाये और बालकों एवं अल्प-वयस्क व्यक्तियों की शोषण से तथा आर्थिक व नैतिक परित्याग से रक्षा की जाए।⁴

डॉ. अम्बेडकर ने अपने जीवनपर्यन्त संघर्षों एवं आन्दोलन में इस बात पर जोर दिया कि दलित जातियों को आर्थिक सुरक्षा एवं आर्थिक स्वतन्त्रता प्रदान की जाये। उन्होंने समय-समय पर ब्रिटिश शासन से तथा बम्बई विधानसभा एवं वायसराय की कार्यकारिणी का सदस्य रहते हुए दलितों के आर्थिक उत्थान पर जोर दिया। अपने द्वारा आजीवन किये गये प्रयासों को साकार करने का अवसर डॉ. अम्बेडकर को तब मिला जब उन्हें भारतीय संविधान निर्माण हेतु प्रारूप समिति का अध्यक्ष नियुक्त किया गया। इस हेतु संविधान में कुछ नीति-निर्देशक सिद्धान्तों का भी समावेश किया गया है जिन्हें राज्य को कानून तथा निर्णय प्रक्रियाओं के समय ध्यान में रखना चाहिए। राज्य की वहीं अवधारणा, जो सामाजिक मामलों में तटस्थ रहे, अब बीते समय की बात हो गई है। आज का राज्य एक न्यायोचित समाज व्यवस्था स्थापित करने का प्रमुख है।⁵ भारत का संविधान केवल राजनैतिक प्रजातन्त्र का ही स्वरूप निर्धारित नहीं करता अपितु आर्थिक प्रजातन्त्र की रूपरेखा भी प्रस्तुत करता है।

इस प्रकार संविधान की प्रस्तावना में वर्णित न्याय का सिद्धान्त लोगों के आर्थिक कल्याण को प्रजातांत्रिक मानववादी व्यवस्था का मुख्य विषय बनता है। वह सामाजिक असमानता और अभ्यास के आधार पर प्रहार कर शोषण और सामन्ती व्यवस्था को चुनौती देता है।

न्याय का सिद्धान्त हमारे जीवन के सभी पहलुओं के लिए व्यापक निहितार्थ प्रदान करता है। संविधान के अन्तर्गत सामाजिक न्याय का एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु यह है कि, "राज्य, जनता के दुर्बल वर्गों के, विशिष्टतया अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के शिक्षा और अर्थ सम्बन्धी हितों की विशेष सावधानी से अभिवृद्धि करेगा और सामाजिक अन्याय तथा सभी प्रकार के शोषण से उनकी सुरक्षा करेगा।"⁶ यह बात ध्यान देने की है कि संविधान निर्माताओं ने कुछ ऐसे अतिरिक्त प्रावधानों का समावेश इस दृष्टि से किया है कि देश के सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक

जीवन में इस प्रकार संरचनात्मक परिवर्तन आये कि राष्ट्र के कमजोर वर्गों का विकास और कल्याण हो सके। सदियों से पीड़ित और दबे-कुचले वर्गों की गरीबी का अन्त हो और सामाजिक दृष्टि से भी उनको सम्मानजनक स्तर मिले। संविधान में यह उल्लेख किया गया है कि आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले कि सम्पत्ति और उत्पादन के साधनों पर कुछेक लोगों का ही आधिपत्य स्थापित न हो जाये अपितु देश की भौतिक सम्पदा का स्वामित्व तथा नियन्त्रण समस्त नागरिकों के हित में हो। उत्पाद के समस्त साधनों का वितरण सभी व्यक्तियों के मध्य समान रूप से किया जाये।⁷ आर्थिक न्याय का सिद्धान्त उस सामाजिक चिन्तन का परिणाम है जिसने भारत में गरीबी की समस्या और आर्थिक अव्यवस्था की ओर तुरन्त ध्यान देने पर बल दिया जो एक क्रान्तिकारी प्रेरणा के समान था।⁸

I UnHk%

1. पुखराज जैन तथा बी. एल. फड़िया, 2006; भारतीय शासन एवं राजनीति, साहित्य भवन, आगरा पृ.49
2. ग्रेनविल ऑस्टिन, 1976; द इंडियन कांस्टीट्यूशन्स : कार्नास्टोन आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस,पृ. 164
3. वी.आर. के. अय्यर, 1972;लॉ एंड द प्यूपिल, इलाहाबाद, सैंट्रल ला पब्लिकेशन्स, पृ.106
4. भारत का संविधान, अनुच्छेद 38-39
5. के.एस हेगडे, 1972; डाइरेक्ट प्रिन्सिपल्स ऑफ स्टेट पॉलिसी इन द कांस्टीट्यूशन्स ऑफ इंडिया, नई दिल्ली,स्टर्लिंग, पृ. 55-56
6. भारत का संविधान, अनुच्छेद-46
7. भारत का संविधान, अनुच्छेद-39
8. डी. आर. जाटव, 1992; भारतीय समाज एवं संविधान, जयपुर, समता साहित्य सदन, पृ.10-11

I kekftd U; k; dh fn'kk ea MkM Hkhejko
vEcMdj dk ; ksnku
vatyh x<oky*
MkM 'ksyt k nics**

भारत में सामाजिक न्याय की स्थापना, अस्पृश्यता उन्मूलन एवं दलितोद्धार के लिये किये गये संघर्ष के इतिहास का अध्याय डॉ. भीमराव अम्बेडकर के योगदान के उल्लेख के बिना अधूरा ही माना जा सकता है। डॉ. भीमराव अम्बेडकर एक क्रांतिकारी विद्रोही थे, जिन्होंने दलितों को राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक न्याय दिलवाने के लिये संघर्ष किया।¹ वर्तमान युग में न्यायपूर्ण समाज की संरचना के लिये भारत में जिन समाज-सुधारकों ने कार्य किया है, उनमें से अधिकांश को इस कार्य के लिये किसी न किसी की प्रेरणा या सहानुभूति मिली थी। केवल डॉ. अम्बेडकर ही ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने यह कार्य अपनी स्वयं की स्वानुभूति से किया था।

अछूत परिवार में जन्म लेने के कारण सामाजिक भेदभाव, अपमान व तिरस्कार की जो पीड़ा डॉ. अम्बेडकर ने झेली, वैसी पीड़ा किसी अन्य को नहीं झेलनी पड़ी थी। इस कारण सामाजिक अन्याय के विरुद्ध संघर्ष, विशेष रूप से दलितों के उद्धार के लिये संघर्ष को डॉ. अम्बेडकर ने अपने जीवन का उद्देश्य घोषित किया। उन्होंने कहा— “जिस दलित जाति में पैदा हुआ हूँ, उसे मुक्ति दिलाना ही मेरे जीवन का उद्देश्य है, और यदि मैं इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सका तो गोली मारकर अपना जीवन समाप्त कर लूँगा।² डॉ. भीमराव अम्बेडकर का यह कथन सामाजिक न्याय के विरुद्ध संघर्ष के प्रति उनकी प्रतिबद्धता और समर्पण की भावना को प्रदर्शित करता है। डॉ. अम्बेडकर सवर्णों के हृदय-परिवर्तन और सामाजिक

*सहायक प्राध्यापक, समाजशास्त्र विभाग, शासकीय महाविद्यालय, रेहटी, रायसेन, म0प्र0

**प्राध्यापक, समाजशास्त्र विभाग, शासकीय महाविद्यालय, रायसेन, म0प्र0

सुधार सम्बन्धी महात्मा गाँधी के कार्यक्रमों पर विश्वास नहीं करते थे। वे लम्बे समय तक दलितों की मुक्ति के लिये इन्तजार करने के पक्ष में नहीं थे। उनका विश्वास था कि स्वतन्त्रता और समानता सम्बन्धी जो अधिकार दलितों से अतीत में छीन लिये गये, उनको पुनः प्राप्त करना भीख माँगने से नहीं, अपितु कठोर संघर्ष करने से ही हो सकता है।^{१३} अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए डॉ. अम्बेडकर ने संघर्ष का मार्ग चुना। दलितों में अपने अधिकारों के प्रति जागृति पैदा करने के लिये उन्होंने 1920 में 'मूक नायक' और 1927 से 1930 के बीच उन्होंने दलितों को सार्वजनिक स्थानों के उपयोग के अधिकार दिलाने के लिये संघर्ष किया। इन संघर्षों में चवदार तालाब से पानी लेने सम्बन्धी 'महाड़ सत्याग्रह' सहित अम्बादेवी ठाकुर द्वारा गणपति प्रांगण तथा काला राम मन्दिरों में प्रवेश के लिये किये गये आन्दोलन मुख्य हैं।

हिन्दू धर्म में सुधार लाने से दलितों को सामाजिक न्याय मिल सकेगा, इस बात पर डॉ. अम्बेडकर को विश्वास नहीं था। उनका कहना था कि इतिहास इस बात का साक्षी है कि अतीत में महात्माओं ने तेज आंखों की तरह केवल धूल उड़ायी है, उनके द्वारा असमानता वाले स्तरों में समानता नहीं लाई जा सकी।^{१४}

उन्होंने बताया कि भारत में ऐसे अनेक महात्मा हुए हैं। जिनका एकमात्र उद्देश्य अस्पृश्यता निवारण और दलितों की स्थिति को समृद्ध करना और उन्हें समाज की मुख्य धारा में लाना था किन्तु उनमें से प्रत्येक अपने उद्देश्य में असफल रहा। महात्मा आये और चले गये किन्तु अछूत, अछूत ही बने रहे।^{१५} दलितों से उनका कहना था कि तुलसी की माला जपने अथवा राम भजन करने से कर्ज कम नहीं होता और न ही इससे लगान में कटौती है। तीर्थ करने से मासिक वेतन नहीं मिला करता।

डॉ. अम्बेडकर का मानना था कि समानता और सामाजिक न्याय की स्थापना का काम सन्तों के बूते का नहीं है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि सन्तों ने कभी जाति-प्रथा अथवा अस्पृश्यता के विरुद्ध अभियान नहीं छेड़ा। इस दुनियाँ में क्या होता है, विभिन्न समूहों की स्थिति है और उनके इस लोक में क्या संघर्ष है, इन बातों की सन्तों को चिन्ता नहीं थी। उनकी चिन्ता थी, आत्मा और परमात्मा के बीच सम्बन्ध। सन्तों ने कभी

यह नहीं कहा कि सभी मनुष्य समान हैं। उन्होंने कहा कि सभी मनुष्य ईश्वर की नजरों में समान हैं। यह बहुमत भिन्न तथा हानिप्रद प्रस्थापना है। इस बात का उपदेश देना कठिन नहीं है। सन्तों ने कभी जाति को नष्ट करने की, इस दुनियां से ऊँच-नीच के भेद को समाप्त करने की बात नहीं कही।⁶

डॉ. भीमराव अम्बेडकर दलितों में शिक्षा के प्रचार-प्रसार को बहुत ज्यादा महत्त्व देते थे। दलितों में शिक्षा के प्रचार-प्रसार के उद्देश्य से उन्होंने 1924 में 'बहिष्कृत हितकारिणी सभा', 1928 में, डिप्रेस्ड क्लास एज्यूकेशन सोसाइटी तथा 1944 में, 'पीपुल्स एज्यूकेशन सोसायटी' की स्थापना की। डॉ. अम्बेडकर की दृष्टि से शिक्षा दलितों के उद्धार का सशक्त माध्यम थी। डॉ. अम्बेडकर ने 'पीपुल्स एज्यूकेशन सोसायटी' के अन्तर्गत मुंबई में 1946 में सिद्धार्थ कॉलेज तथा 1951 में औरंगाबाद में मिलिंद कॉलेज की स्थापना की।

डॉ. अम्बेडकर का कहना था कि दलित लोगों के गुलाम होने का कारण यही था कि इन लोगों के पास ज्ञान नहीं था और न शक्ति थी उनकी दृष्टि में शिक्षा की शक्ति ही एक मात्र माध्यम थी। लोकतांत्रिक व्यवस्था में शिक्षा लोगों को राजनीतिक दृष्टि से जागरूक बनाने तथा अपने हितों की रक्षा के लिये एकजुट होने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है, किन्तु शिक्षा के लिये एक राजनीतिक मंच तथा कुशल नेतृत्व की आवश्यकता होती है।⁷

डॉ. भीमराव अम्बेडकर का विचार था कि दलित लोग तब तक न्यायपूर्ण अधिकारों की प्राप्ति और अपने हितों की रक्षा नहीं कर सकते जब तक कि राजनीतिक शक्ति पर उनका अधिकार नहीं होता, क्योंकि अपनी निर्धन स्थिति के कारण आर्थिक शक्ति पर अधिकार कर पाने उनके लिये सम्भव नहीं है। लोकतांत्रिक व्यवस्था में अपनी उल्लेखनीय संख्या के कारण ये लोग राजनीतिक शक्ति प्राप्त कर सकते हैं। राजनीतिक शक्ति पर अधिकार हो जाने से वर्ग के लिये आर्थिक व सामाजिक हितों की रक्षा करना कठिन रहेगा। दलित वर्गों में राजनीतिक जागृति लाने की दृष्टि से डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने 'आल इण्डिया शिड्यूल्ड कास्ट फेडरेशन' की 1942 में स्थापना की। उन्होंने 1927में 'समता सैनिक दल'का किया और इस संगठन के झण्डे के नीचे उन्होंने दलितों को संगठित किया। दलितों

के राजनीतिक धरातल के विस्तार के उद्देश्य से डॉ. अम्बेडकर ने दलितों एवं श्रमिकों को एक संयुक्त राजनीतिक इकाई के रूप में संगठित करने का प्रयास किया और 1936 में 'इंडिपेन्डेन्ट लेबर पार्टी' के नाम से एक नया राजनीतिक दल गठित किया। आगे चलकर डॉ. अम्बेडकर के अनुयायियों ने उनकी मृत्यु के बाद उनके निर्देश पर भारतीय रिपब्लिकन पार्टी के झण्डे तले अपना राजनीतिक मोर्चा संभाला।

साउथबरो समिति और साइमन कमीशन के सामने अथवा मुंबई लेजिस्लोटिव कौंसिल, गोलमेज सम्मेलन एवं संविधान सभा में जब कभी भी डॉ. अम्बेडकर को बोलने का अवसर मिला, उन्होंने दलित वर्ग के पक्ष को पूरे सशक्त एवं तथ्यों के साथ प्रस्तुत किया। उनकी पहल पर जब अंग्रेजी सरकार ने दलितों को अलग से प्रतिनिधित्व देने की घोषणा की तो महात्मा गाँधी ने इसके विरुद्ध आमरण अनशन शुरू कर दिया। महात्मा गाँधी के अनशन पर होने वाली राष्ट्रीय प्रतिक्रिया को देखते हुये डॉ. अम्बेडकर ने पूना की यरवदा जेल में महात्मा गाँधी से मुलाकात की। इस मुलाकात में एक समझौता हुआ, जिसे 'पूना पैक्ट' कहा जाता है। इस समझौते के परिणामस्वरूप डॉ. अम्बेडकर ने पृथक् प्रतिनिधित्व की माँग छोड़ दी तथा कांग्रेस ने विधानमण्डलों परिचय दलित वर्ग के लिये आरक्षण व अन्य सुविधाएँ देने में अत्यधिक उदारता का परिचय दिया।

सामाजिक न्याय के क्षेत्र में डॉ. भीमराव अम्बेडकर के योगदान की चर्चा करते समय उनके इस क्षेत्र में दिये गये वैधानिक एवं संवैधानिक योगदान को नहीं भुलाया जा सकता। 1942 से 1946 तक ब्रिटिश भारत की वायसराय की कौंसिल के लेबर मैम्बर के रूप में डॉ. अम्बेडकर ने महिला श्रमिकों व पुरुष श्रमिकों के हितों की रक्षा प्रदान करने व उनके कल्याण के श्रम नियमों में संशोधन किये और उनको सुरक्षा प्रदान करने व उनके कल्याण के लिये कई योजनाएँ बनायी थीं। श्रमिकों में निम्न व पिछड़ी जातियों की बहुतायत होने के कारण श्रमिकों को मिलने वाले लाभ से इन जातियों के लोगों को तो लाभ मिला ही, अन्य जातियों के गरीब श्रमिकों को भी लाभ हुआ। इसी बीच उन्होंने ब्रिटिश सरकार से दलित वर्ग के छात्रों के लिये छात्रवृत्ति तथा सरकारी सेवोओं में आरक्षण का प्रावधान भी करवाया। संविधान सभा में संविधान की मसौदा समिति के अध्यक्ष के

रुप में उन्होंने महिलाओं, अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों एवं श्रमिकों को न्याय दिलवाने की दृष्टि से संविधान में अनेक प्रावधान किये। भारत के कानून मन्त्री के रुप में डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने 'हिन्दू कोड बिल' की संरचना की जो हिन्दू महिलाओं की मुक्ति व हिन्दू समाज के पुनर्गठन के सम्बन्ध में उनका ऐतिहासिक योगदान है।

I UnHkz %

1. शकुन्तला धवन. 1991; डॉ. अम्बेडकर : अपोस्टल ऑफ सोशल जस्टिस, योजना, 15 अप्रैल, पृ.12
2. धन्नजय कीर. 1981: डॉ. अम्बेडकर : लाईफ एवं मिशन, पापूलर प्रकाशन, बम्बई, पृ. 80
3. धन्नजय कीर. 1981: डॉ. अम्बेडकर : लाईफ एवं मिशन, पापूलर प्रकाशन, बम्बई, पृ. 82
4. धन्नजय कीर. 1981: डॉ. अम्बेडकर : लाईफ एवं मिशन, पापूलर प्रकाशन, बम्बई, पृ. 166
5. डॉ. बाबा साहेब अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय खण्ड -1
6. मधुलिमय. 2000; डॉ. अम्बेडकर-एक चिंतन, दिल्ली, आत्माराम एंड संस, पृ. 35
7. नानकचंद रत्नू. 2005; डॉ. अम्बेडकर के अंतिम कुछ वर्ष, नई दिल्ली, सम्यक प्रकाशन, पृ. 78

हकधेकडो वडकडडज दस डेडक वडकु % , द डुहु डु' डु'क. क डकड डलुक [कडु*

8 अगस्त, 1930 को नागपुर में दलित वर्ग काँग्रेस का पहला अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन के अध्यक्ष डॉ. भीमराव अम्बेडकर थे। अपने अध्यक्षीय भाषण में अम्बेडकर ने घोषणा की कि भारत स्वतंत्रता प्राप्ति के निकट पहुँच गया है और वह संयुक्त स्वशासित राज्य बना रह सकता है, लेकिन स्वाधीन भारत का संविधान बनाते समय लोगों और परिस्थितियों की भिन्नताओं को नजरअन्दाज नहीं किया जाना चाहिए। उन्होंने माँग की कि दलितों को पर्याप्त आरक्षण प्राप्त होने चाहिए। विधानमण्डलों में उन्हें उनकी संख्या के अनुपात में सीधे अपने प्रतिनिधि चुनने का अधिकार मिलना चाहिए। अम्बेडकर ने अपने भाषण में महात्मा गाँधी के द्वारा शुरू किये गये 'सविनय अवज्ञा आन्दोलन' का विरोध किया और कहा कि इस तरह से जो क्रान्ति होगी, वह दिशाहीन होगी। इसमें किसी एक वर्ग के हाथों में प्रभुत्व जाने का डर रहता है। इस सविनय अवज्ञा आन्दोलन के द्वारा प्राप्त स्वाधीनता में अछूतों को उचित मात्रा में अधिकार मिल सकेंगे इसका भरोसा नहीं है। डॉ. अम्बेडकर ने अपना यह विचार भी व्यक्त किया कि काँग्रेस को गोलमेज परिषद् में भाग लेना चाहिए और अपना सविनय अवज्ञा आन्दोलन समाप्त कर देना चाहिए। अम्बेडकर भारत में ब्रिटिश शासन के प्रशंसक थे। ब्रिटिश शासन ने भारत में बौद्धिक जागृति पैदा की थी और लोगों के मन में सामाजिक कुरीतियों के प्रति विद्रोह का भाव पैदा किया था। पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से भारतीय अपने सामाजिक मूल्यों तथा मान्यताओं पर फिर से विचार करने के लिए तैयार हो गये थे। लेकिन इसके साथ ही डॉ. अम्बेडकर ब्रिटिश शासन के देशों से भी परिचित थे। ब्रिटिश शासन— व्यवस्था संसार की सबसे महँगी शासन—व्यवस्था थी।

*अतिथि प्राध्यापक, समाजशास्त्र विभाग, शासकीय महाविद्यालय, पिछोर, म०प्र०

भारतीयों को जितनी भी कठिनाइयों और समस्याओं का सामना करना पड़ रहा था, वे स्वाधीन भारत में ही दूर हो सकती हैं। लेकिन राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त होने से दलितों की समस्याओं का समाधान नहीं होगा। उनके अनुसार दलितों की समस्याओं के समाधान का एक ही उपाय था—उनकी सामाजिक स्थिति में सुधार वर्ण व्यवस्था पर प्रहार आदि।

डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने व्यक्ति और समाज के परिप्रेक्ष्य में यह सिद्ध किया कि समाज में सभी मनुष्य समान हैं। सभी को समानता के साथ जीने का अधिकार है इसलिये न्याय और समता के आधार पर भारतीय समाज की पुनर्रचना की जानी चाहिए। इसके लिए उन्होंने वर्ण—व्यवस्था का पूर्ण रूप से उन्मूलन आवश्यक माना। डा. अम्बेडकर वर्ण व्यवस्था के घोर विरोधी थे। वे वर्ण—व्यवस्था को समाज में श्रम—विभाजन की सहज योजना नहीं, अपितु ब्राह्मणों द्वारा अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये जान बूझकर गई ऐसी व्यवस्था मानते थे, जिसने समाज को उच्च व निम्न के रूप में विभाजित कर दिया है। उनकी नजरों में वर्ण—व्यवस्था श्रम का विभाजन न होकर श्रमिकों का विभाजन है।¹ उनकी नजरों में हिन्दू धर्म ग्रन्थों, विशेषकर मनुस्मृति आदि ने अस्पृश्यों एवं शूद्र वर्ण के प्रति घृणा एवं भेदभाव को प्रश्रय दिया है। उन्होंने भारत की सामाजिक समस्याओं के निवारण के लिये हिन्दुओं को वर्ण व्यवस्था व धर्मशास्त्रों के बंधन से मुक्त किया जाना आवश्यक माना।²

आजाद भारत में गणतंत्रात्मक शासन—व्यवस्था अपनाये जाने पर उन्होंने नई सामाजिक व्यवस्था कायम करने की कल्पना की। उनका विचार था कि वर्ण और जाति व्यवस्था की विभीषिक को स्वतन्त्र भारत में दलितों को भोगने के लिए अब और अधिक विवश व बाध्य नहीं किया जाना चाहिए। उन्होंने अपने इन्हीं आदर्शों को भारतीय संविधान में स्वीकृत करवाया तथा सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक समता और स्वतन्त्रता को संविधान में मौलिक रूप से स्थापित कराया।

Hkkjrh; ukjh ds l Eekutud LFkku dk l eFku %

डॉ. भीमराव अम्बेडकर का ध्यान हिन्दू समाज के जर्जर ढाँचे में परिवार के केन्द्र में अवस्थित भारतीय नारी की ओर भी गया। उन्होंने संविधान में उसे भी सम्मानजनक स्थान दिलाकर उसकी गरिमा और

प्रतिष्ठा को पुनःस्थापित किया है। अपनी इस भूमिका के कारण डॉ. भीमराव अम्बेडकर को 'सामाजिक क्रांति का जनक और आधुनिक मनु आदि की उपाधियाँ मिली।

डॉ. अम्बेडकर की मान्यता थी कि स्त्रियों को शिक्षा व अन्य सामाजिक क्षेत्रों में पुरुषों के समान ही अवसर प्राप्त होने चाहिए। वे हिन्दू परिवार प्रणाली में स्त्रियों को पुरुषों के अधीनस्थ और उन पर निर्भर समझे जाने की प्रवृत्ति के विरोधी थे। हिन्दू समाज में, सम्पत्ति के उत्तराधिकार, निःसंतान होने पर किसी पुत्र या पुत्री को गोद लेने, पुनर्विवाह आदि प्रसंगों में स्त्रियों के साथ भेदभाव किया जाता था। भीमराव अम्बेडकर ने विद्यमान इन भेदभावों का अन्त किया जाना आवश्यक माना। पारिवारिक व सामाजिक जीवन में स्त्रियों की स्थिति में सुधार के लिये डॉ. अम्बेडकर ने विधि मंत्री के रूप में हिन्दू कोड विधेयक संसद में प्रस्तुत किया तथा इसे पारित करवाने के लिये गंभीर प्रयास किये। इस विधेयक में अन्य बातों के अतिरिक्त महिलाओं को सम्पत्ति के अधिकार प्रदान किये गये। लेकिन उनके अथक प्रयासों के बावजूद यह विधेयक संसद में पारित नहीं हो सका। इसी के विरोधस्वरूप उन्होंने नेहरू मंत्रिमण्डल से त्याग पत्र दे दिया तथा नेहरूजी पर आरोप लगाया कि वे महिला एवं दलितों के विरोधी हैं एवं परम्परागत रुढ़ियों को अधिक मान्यता दे रहे हैं।

शताब्दियों से दलितों पर थोपे हुए हिन्दू अभिजात्य के अधिकारों के विरुद्ध समता और सह-अस्तित्व के आधार पर समाज की पुनर्रचना का आग्रह उनके विचारों और जीवन-दर्शन का मूल स्वर था। उनका यह स्वर इसलिए भी प्रभावी था, क्योंकि वे स्वयं अपने जाति-बन्धुओं की भाँति समान रूप से दुःखी, समान रूप से पीड़ित और प्रताड़ित तथा विभीषिकाओं के भोगी थे।

/kkfɛd dɛjrk ij igkj %

धर्म के बारे में डॉ. भीमराव अम्बेडकर के विचार स्पष्ट थे। साम्यवादी विचारधारा में प्रचलित मुहारव 'धर्म एक अफीम है' को उन्होंने स्वीकार नहीं किया। उनके अनुसार धर्म का महत्त्व उसके ढोंग पाखण्ड, कट्टर और उसके अनुदार होने में नहीं है। सत्य, अहिंसा और प्रेम में डॉ. भीमराव अम्बेडकर की पूरी आस्था थी। इसीलिए जीवन की अन्तिम वेला

में वे बौद्ध धर्म की ओर आकर्षित हुए और अपने प्रश्नों का उत्तर उन्होंने बौद्ध धर्म में खोजा।³

भगवान बुद्ध और आम्रपाली का प्रकरण उनके मर्मस्थल को छू गया और 'समान आदर और समता' की बुद्ध के ज्ञान के आगे वे नतमस्तक हो गये। उन्होंने पूर्ण मनोयोग से बुद्ध धर्म का अनुशीलन किया तथा उन्हें एक विशुद्ध भारतीय और पूर्ण मनोयोग से बुद्ध धर्म का अनुशीलन किया तथा उन्हें एक विशुद्ध भारतीय और पूर्ण मानतावादी दृष्टि मिली। 'द बुद्ध एण्ड हिज धम्म' नाम के प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना उनके इसी चिन्तन और अनुशीलन का परिणाम थी। यह ठीक उसी प्रकार था जिस प्रकार 'गीत रहस्य' की रचना लोकमान्य सन्दर्भ में थी। धर्म के बारे में अपनी आस्था को मूर्तरूप देने के लिये उन्होंने नागपुर में 14 अक्टूबर 1956 को अपने लगभग पाँच लाख अनुयायियों के साथ वयोवृद्ध भिक्षु महास्थविर चन्द्रमणि के सान्निध्य में बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण की और घोषित किया— "मैंने हिन्दू बनकर जन्म लिया, यह मेरा दुर्भाग्य था; अब मैं हिन्दू होकर मरूँगा नहीं।"⁴

डॉ. अम्बेडकर मानव जीवन में धर्म एवं नैतिकता को बड़ा महत्त्व देते थे। उनका मत था कि धर्म और नैतिकता का बंधन समाज को एकता के सूत्र में बाँध सकता है। उनका दृढ़ विश्वास था कि आशा मनुष्य के जीवन की प्रेरक शक्ति है, धर्म आशा देता है तथा आशा आत्मवंचना से भिन्न है। मनुष्य को धर्म के भीतर ही शांति मिल सकती है, लेकिन वह धर्म होना चाहिए, धर्म के नाम पर पाखण्ड नहीं। उनका कहना था कि "आदमी केवल रोटी के सहारे जीवित नहीं रह सकता। उसको मस्तिष्क भी मिला हुआ है जिसे विचारों की खुराक जरूरी है।"⁵ इस प्रकार डॉ. अम्बेडकर धर्म के महत्त्व के प्रति सचेत होते हुये भी वे धर्म के नाम पर प्रचलित अन्याय, भेदभाव और पाखण्डों के समर्थक नहीं थे। उनका दृढ़ मत था कि धर्म को विवेक और विज्ञान सम्मत होना चाहिए। केवल उन्हीं धार्मिक विश्वासों और मूल्यों को सामाजिक दृष्टि से उपयोगी माना जा सकता है जो समानता, स्वतंत्रता और भाईचारे के आदर्शों के अनुरूप हों।⁶

Xkky/khth ds vNwrks) kj dk; Øe l serHkn %

डॉ. भीमराव अम्बेडकर के समकालीन महात्मा गाँधी ने भी अस्पृश्यता के विरुद्ध आन्दोलन शुरू किया था। 1924 में वे महात्मा गाँधी के अछूतोद्धार कार्यक्रम के आन्दोलन में सम्मिलित भी हुए थे। किन्तु, उनको महात्मा गाँधी का मार्ग अधिक विलम्ब का तथा अप्रभावी लगा। हरिजन कल्याण एवं अस्पृश्यता उन्मूलन सम्बन्धी उपायों पर उनका गाँधीजी से मतभेद था।⁷ इसलिये वे अतिशीघ्र महात्मा गाँधी के कार्यक्रम से पृथक् हो गये। भीमराव अम्बेडकर का आरोप है कि महात्मा गाँधी ने अस्पृश्यता निवारण के प्रश्न को वांछित प्राथमिकता नहीं दी। अम्बेडकर के अनुसार गाँधीजी को अस्पृश्यता निवारण के प्रश्न को स्वराज्य के लिये संघ की तुलना में प्राथमिकता देनी चाहिए, क्योंकि जब तक समाज का एक बड़ा वर्ग सामान्य मानवीय अधिकारों से भी वंचित है, राजनैतिक स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं है।⁸ डॉ. अम्बेडकर ने अपनी पुस्तक 'UgkV dkrxdl , .M xk/kh gß Mu Vrn vUkVpçVI ^ में अनेक उद्धरण देकर स्पष्ट किया है कि गाँधीजी का अस्पृश्यता विरोधी अभियान दिखावा है तथा उनकी कथनी में गंभीर अन्तर है। पर साथ ही वे गाँधीजी के कार्यक्रम से प्रभावित अवश्य थे और महात्मा गाँधी के सत्याग्रह के सिद्धान्त को उन्होंने स्वीकार भी किया।

1927 में महाड़ में चवदार सत्याग्रह, 1930 में नासिक में कालाराम मन्दिर प्रवेश के सम्बन्ध में सत्याग्रह और 1932 में 'मुखड़े' गाँव में किया गया सत्याग्रह गाँधीजी के प्रभाव के परिणामस्वरूप ही थे। महाराष्ट्र में मुम्बई के प्रसिद्ध समाज सुधारक ज्योति बा फुले एवं महादेव गोविन्द रानाडे का भी डॉ. भीमराव अम्बेडकर के जीवन-दर्शन पर प्रभाव पड़ा था। उन्होंने समाज, विज्ञान, धर्म, राजनीति आदि विशयों पर अपने सिद्धान्त बनाये। यह उनके मुक्त चिन्तन का परिणाम था। धार्मिक दृष्टि को उन्होंने मानवतावादी दृष्टि और समाज के नियामक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया। मार्क्स से प्रभावित होने पर भी उन्होंने सर्वहारा वर्ग के सिद्धान्त को अस्वीकार किया। उनकी हिंसा तथा रक्तक्रांति में आस्था नहीं थी। अपितु वे गाँधीजी के समान शांतिपूर्ण एवं अहिंसक साधनों में विष्वास करते थे।

I UnHkz %

1. बी.आर. अम्बेडकर; एनिहिलेशन ऑफ कास्ट्स बाबासाहेब डॉ.अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय, खंड-1, पृ. 66
2. बी.आर. अम्बेडकर; एनिहिलेशन ऑफ कास्ट्स बाबासाहेब डॉ.अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय, खंड-1, पृ.99
3. बी.आर. अम्बेडकर. 1980; बुद्धा एंड द फ्यूचर ऑफ हिज रिलीजन, भीम पत्रिका प्रकाशन, जालंधर, पृ.12-15
4. भगवानदास दास. 1980; स्पोक अम्बेडकर, खंड-4, अम्बेडकर साहित्य प्रकाशन, बैंगलोर,
5. धन्नजय कीर 1961; डॉ. अम्बेडकर-लाइफ एंड मिशन पापूलर प्रकाशन, बम्बई, पृ0 462
6. बी.आर. अम्बेडकर; एनिहिलेशन ऑफ कास्ट्स बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय, खंड-1, पृ.99
7. बी. आर. अम्बेडकर. 1945; व्हाट कांग्रेस एंड गाँधी हैव डन टू द अनटचेबल्स, टक्की एंड कं बम्बई पृ.245
8. बी. आर. अम्बेडकर. 1945; व्हाट कांग्रेस एंड गाँधी हैव डन टू द अनटचेबल्स, टक्की एंड कं; बम्बई, पृ.248-250

प्रकाशित पुस्तकें :

नारी विमर्श (प्राचीन काल से आधुनिक काल तक)

काशी में हिन्दू विधवायें

कामकाजी महिलाएँ : समस्याएँ एवं समाधान

विश्व के प्रमुख धर्म

प्रमुख समकालीन दार्शनिक

लिंग भेद एवं सामाजिक परिवर्तन



Published by :

South Asia Research & Development Institute

B, 28/7C, Manas Mandir, Durgakund

Varanasi-221005, U.P. (INDIA)

Email : sardi.vns@gmail.com, Mob. 09453025847

ISBN 978-81-932391-0-0



9 788193 239100

₹ : 350